सिद्धयोग

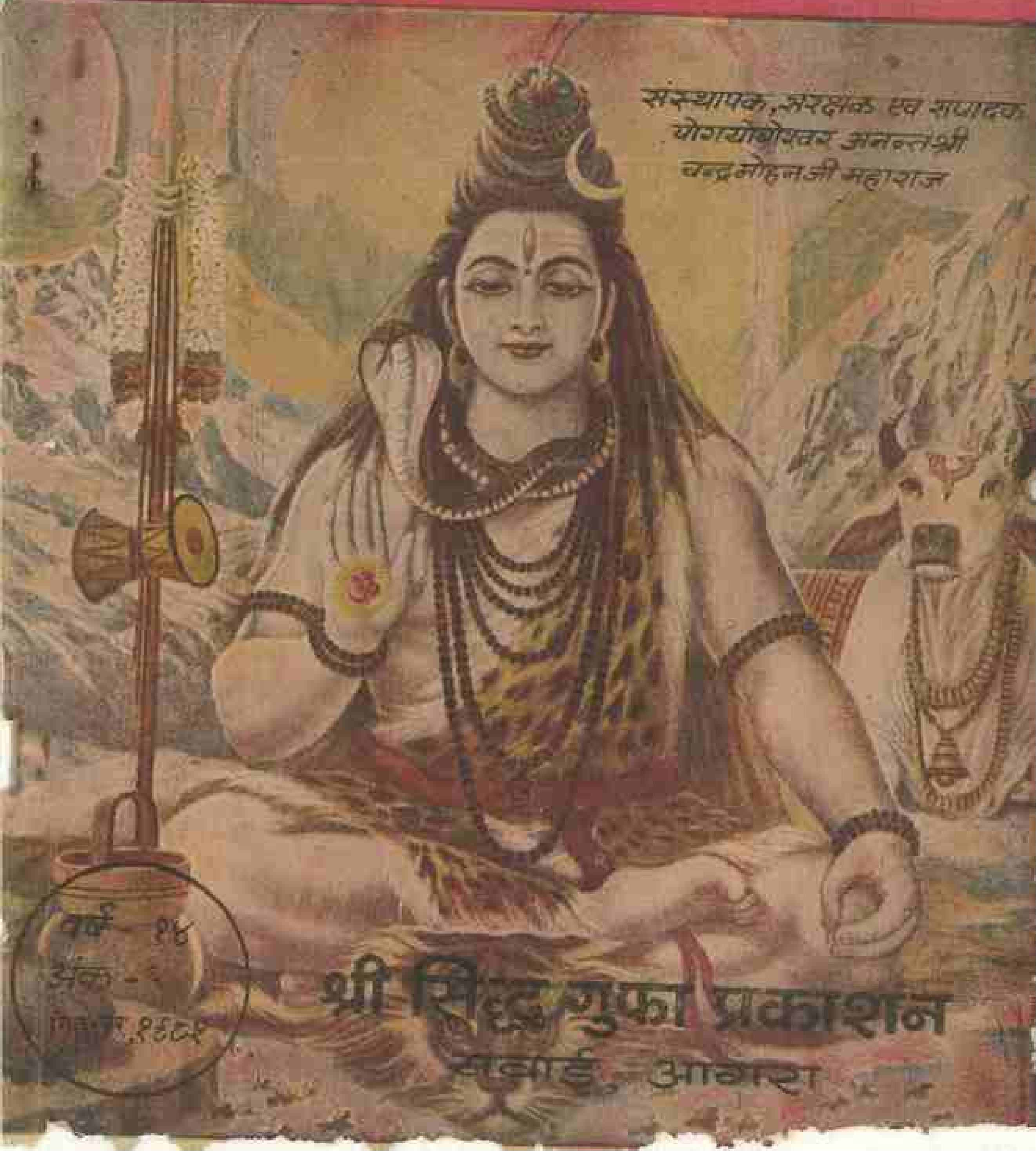

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष - १४
अंक - [illegible]
सितम्बर, १९८९

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सलाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

卐

❀ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च	१
❀ मृत्यु का ज्ञान कैसे ? (विशेष लेख) योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	२
❀ उपासना श्री सूरजप्रकाश शर्मा	६
❀ सदोपदेश-दोहावली महाकवि श्री शङ्कर	६
❀ साधना-विज्ञान श्री पं० रामनिवासजी शर्मा	१०
❀ एक घटना श्री रामसजीवनसिंह	१४
❀ विदेह योगी राजा जनक डा० श्री विजयसिंह	१६
❀ जीवन में मरना भला आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	१८
❀ एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति आचार्य श्री वेदव्रत शास्त्री	२६
❀ निजानुभूतियाँ श्री महेन्द्रनारायणसिंह	३२
❀ साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर श्री सद्गुरु देव जी द्वारा	३५
❀ मन की शुद्धि श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए.	४०
❀ बन्धन और मोक्ष श्री वैद्य रामघन शर्मा	४३
❀ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् संकलित	४७

卐

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य : १८ रुपया

॥ श्री रामलाल प्रभवे नमः ॥

श्री सद्गुरुदेव जी महाराज का

जन्मोत्सव

सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में

अपने सभी भाई-बहिनों को यह सूचित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है कि क्षण-क्षण स्मरणीय परम आराध्य गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का पावन जन्म-दिवस समारोह इस वर्ष आश्विन सुदी दशमी (विजया-दशमी) तदनुसार ८ अक्टूबर १९८१ को चित्र गुप्त मन्दिर, रानी बाजार सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में मनाया जाना निश्चित हुआ है।

इसके अतिरिक्त पूज्य श्री गुरुदेव जी ने कृपा-पूर्वक दिनाङ्क ६ व ७ अक्टूबर को सहारनपुर में अपने योग-प्रचार कार्यक्रम की भी स्वीकृति प्रदान करदी है।

अतः सभी भाई-बहिनों से निवेदन है कि इस शुभ अवसर पर उपस्थित होकर श्री गुरु-पूजन एवं सत्संग का अलभ्य लाभ उठायें।

श्री गुरुदेव जी का निवास-स्थानः—
चित्र गुप्त मन्दिर,
रानी बाजार
सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)

संयोजकः—
श्री सिद्धगुफा
योग-साधक मण्डल
सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)

सिद्ध योग

वर्ष १४
अङ्क ६

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशद योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

सितम्बर
१९८१

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

--श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११

अर्थात्

वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदय-रूप गुहा में छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सबके कर्मों के अधिष्ठाता—उनको कर्मानुसार फल देने वाले और समस्त प्राणियों के निवास स्थान—आश्रय हैं, तथा वे ही सबके साक्षी—शुभाशुभ कर्म को देखने वाले, परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करने वाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृति के गुणों से अतीत भी हैं।

हमारा विशेष लेख—

❊ मृत्यु का ज्ञान कैसे ? ❊

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार-चक्र चल रहा है, अनेक जन्म लेते है व अनेक बिछुड़ जाते है, कौन आया, कौन गया, क्यों गया यह कोई भी जान नहीं पाता। न ही किसी को यह चिन्ता ही होता कि आज क्या हो रहा है व कल क्या होगा? वस्तुतः संसार में जन्म लेने वाला हर एक प्राणी निर्भय व उन्मत्त होकर चल रहा है। उसको अपने भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं कि कल क्या समय आ रहा है। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने उपरोक्त भावों को व्यक्त करते हुए एक श्लोक की रचना की—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः
संक्षीयते जीवितम्।
व्यापारैर्बहु कार्यभारगुरुभिः
कालो न विज्ञायते॥
दृष्ट्वा जन्म जरा विपत्ति-
मरणं त्रासश्चनोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद-
मदिरामुन्मत्त भूतं जगत्॥

अर्थात् सूर्य के रोज निकलने - छुपने से आयु का एक-एक दिन घट रहा है। धन्धे इतने अधिक है कि प्रातः से सायं तक समय का ज्ञान भी नहीं हो पाता। प्रतिदिन मनुष्य हजारों के जन्म और मौत की बातें सुनता है किन्तु मन में कोई भय उत्पन्न नहीं होता। एक प्रकार से मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संसार उन्मत्त हो रहा है। मृत्यु हर जन्म लेने वाले प्राणी के सिर पर है—भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं आज्ञा कर रहे है—

जातस्य हि ध्रुवोमृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वम् शोचितुमर्हसि।

अर्थात् जो जन्मा है उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी और मर चुका है उसका जन्म भी निश्चित है। इसलिए जो बात बदली नहीं जा सकती उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी प्राणी कब संसार से विदा हो जाता है इसका ज्ञान किसी को भी नहीं हो पाता, क्षण क्षण में सुन लेते हैं। अमुक व्यक्ति अभी तक ठीक था

किन्तु आज वह संसार से बिदा हो गया व काल का ग्रास बन गया। बाद में सान्त्वना देने वाले सज्जन, मित्र प्यारे कुटुम्बी लोग उसके सम्पर्क के लोगों को समझाते है कि भाई सन्तोष करो अब इसका यह समय ही था, होनहार को कौन टाल सकता है, काल दुरतिक्रम है किन्तु कहने व समझाने वालों को भी यह ज्ञान नहीं कि इसकी मृत्यु क्यों हुई ? क्या इसका यह समय निश्चित था या बिना ही समय के इसका यह अपरान्त काल हो गया है ? इन ही बातों के ज्ञानके हेतु भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र २२ में स्पष्ट निर्देश किया है कि मनुष्य को अपनी मृत्यु का ज्ञान कैसे हो, उसके दो उपाय है। यथा—

सोपक्रमम् निरुपक्रमम् च कर्म तत् संयमात् अपरान्तज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा।

अर्थात् मनुष्य के भोगे जाने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक सोपक्रम कर्म वह कहलाते है जो अपना भोग अत्यन्त वेग से दे रहे है व दूसरे निरुपक्रम कर्म वह कहलाते हैं जो धीरे धीरे भोगे जा रहे है। सोपक्रम कर्म अपने भोग बहुत जल्दी समाप्त कर देंगे व प्रारब्ध कर्म विपाक के समाप्त होते ही प्राणी का अपरान्त काल हो जायगा व दूसरे वह कर्म जो निरुपक्रम की गतिसे शनैः-शनैः अपने भोग मन्द गति से भुगता रहे हैं वह कर्म समूह लम्बे समय में निबट पायेगा— जैसे एक कहीं का यात्री यदि अपनी यात्रा हवाई जहाज आदि से करता है तो वह उस यात्रा को घण्टों में तय कर लेगा और यदि वही यात्रा पैदल तय करता है तो वर्षों का समय लग जायगा। बस यही सोपक्रम एवं निरुपक्रम कर्मों का भेद है। अब किस प्रकार के कर्मों का भोग चल रहा है जब संयम सिद्ध योगी जानना चाहता है तो अपने संयम अर्थात् सिद्ध समाधि के बल से तत्काल जान लेगा या दूसरा तरीका आम सांसारिक साधारण ज्ञान वाले मनुष्यों के लिये है।

अरिष्टों से काल का ज्ञान—

अरिष्ट शब्द का अर्थ है लक्षण, अर्थात् मृत्यु के समय के लक्षणों से प्रायः सभी जान जाते है कि अब इसका समय आ चुका है, अब यह यात्री अपनी आगे की यात्रा करना ही चाहता है। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं— पहला आध्यात्मिक, दूसरा आधिभौतिक एवं तीसरा आधिदैविक। उसमें आध्यात्मिक अरिष्टों में कान बन्द करने पर हर समय जो अन्तरनाद प्रतिक्षण सुनाई देता रहता है वह न सुनाई दे या आंखों के कोनों के दबाने से ज्योति कला न दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि मृत्युकाल बिल्कुल निकट है दूसरा आधिभौतिक—जिसमें अकस्मात् यमदूत दिखलाई दें या अपने पूर्वज जो गत हो चुके हों वे

अकस्मात् दिखलाई देने लगें। इसी प्रकार आधिदैविक देव-लोक के सिद्धों का अकस्मात् दीखना। यह सब अरिष्ट मृत्युकाल में सामने आने लगते हैं। इसके अतिरिक्त तत्काल प्रकृति का बदल जाना भी मृत्यु सूचक चिह्न है। एक आदमी जो अत्यन्त कंजूस है वह यकायक बहुत उदार हो जाय– कई एक व्यक्तियों के स्वभाव में मृत्यु समय महान परिवर्तन हुआ दिखलाई देता है। कइयों की आकृतियों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। भावी योनियों के चिह्न मृत्युकाल में प्रगट होने लगते हैं। पढ़ो इस सूत्र पर महर्षि व्यास देव जी का भाष्य—

तत्रायुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव सम्पिण्डितम्। चिरेण संशुष्येत् एवांनिरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिदैविकं चेति तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वा पश्यति विपरीतं वा सर्वमिति अनेन वा जानात्यपरान्त मरणमुपस्थितमिति।

भाव वही सब उपरोक्त है। भगवान पतञ्जलि देव ने उन्हीं बातों को दूसरे-दूसरे उदाहरणों से समझाया गया है, जैसे वस्त्र का उदाहरण देकर, गीले वस्त्र को यदि हम तेज हवा तीव्र धूप में सुखा लेते हैं तो वह बहुत जल्दी सूख जाता है। इसी प्रकार सोपक्रम कर्म है—जो तीव्र संवेग के साथ तीव्रतम् साधनों से जिसका भुगतान चल रहा है वह कर्म जल्दी अपना फल देकर निबट जायगा। इसी को सोपक्रम कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा उसी गीले वस्त्र को हम पिण्डाकार गोल लपेट कर कहीं ठण्डी जगह में रख दें तो वही वस्त्र बहुत लम्बे समय में सूख पायेगा। इसी प्रकार निरुपक्रम कर्म है जो मन्द साधनों के द्वारा बहुत ही मन्द वेग से भोगे जा रहे हैं वे कर्म अपना भोग बहुत लम्बे समय में दे पायेंगे। इन कर्मों को निरुपक्रम कर्म कहा गया है। योगी अपने संयम के बल से इन दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षात्कार करके समझ लेता है कि इनका भोग कितने समय तक समाप्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त वही त्रिविध अरिष्टों के द्वारा (जिनका वर्णन

पहिले कर चुके हैं) सर्व साधारण को भी काल का ज्ञान हो जाता है सबसे उत्तम बात तो वही है जिसमें योगी अपने संयम के बल से काल ज्ञान को पा लेता है व उसको पुण्यों की कमाई से बढ़ा लेता है।

एक योगाभ्यासी महात्मा —

सालवन जिला करनाल में एक गांव है, वहां लगभग ५० वर्ष पहिले एक महात्मा निवास करते थे उनका नाम गौरीशङ्कर था। दशाश्वमेध तीर्थ पर निवास करते थे। सालवन गांव के विषय में यह प्रख्यात है कि महाभारत की लड़ाई के समय यह स्थान महाराजा सालीवाहन का युद्ध विश्राम क्षेत्र (अर्थात् यहां पर राजा शालीवाहन का कैम्प था) इसीलिये इस स्थान का विकृत नाम शालिवाहन की अपेक्षा सालवन रह गया, अस्तु, इस गांवमें दशाश्वमेध तीर्थ पर महात्मा गौरीशङ्कर निवास करते थे, उन महात्मा के दर्शन लेखक ने स्वयं प्राप्त किये थे, श्री महात्मा गौरीशङ्कर जी ने स्वयं अपने ही मुख से बताया था कि उज्जैन में उनको सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी के दर्शन कृपा-लाभ की थी। महात्मा श्री गौरीशङ्कर जी अपनी मृत्यु का ज्ञान पहिले से ही हो गया था व उन्होंने अपने शिष्यों से बतला दिया था कि मेरी मृत्यु अमुक दिन इतने बजकर इतने मिनट तक हो जायगी, वैसा ही हुआ भी, श्री महात्मा गौरीशङ्कर जी अपनी मृत्यु से दो दिन पहिले ही अपने दश कर्म व त्रयोदश संस्कार आदि स्वयं अपने हाथों से करा दिये थे व अपने शिष्यों से अपने शरीर जलाने के लिये स्थान बता दिया था। मृत्यु के दिन पहिले से ही अपने सत्संगियों को बुला लिया व उन सबके सम्मुख अपने नश्वर देह-परित्याग किया। मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये की इस सदुपयोग को करे व कम से कम अपरान्त ज्ञान प्राप्त कर अधिकाधिक तप, यज्ञ, दान आदि उत्कृष्ट कर्म करे ताकि इस मौत के फन्द से छूटकर नित्यत्व की प्राप्ति और बार-बार के जन्म एवं मरण के चक्र से बच जाय।

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां ।
एको बहूनां योविदधाति कामान् ॥
तमात्म थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
शान्ति शाश्वती नेतरेषाम् ॥

अर्थात् उन नित्यों के नित्य व चेतनों के चेतन (जो एक होता हुआ भी बहुतों की कामनापूर्ण करता है) उस नित्य चेतन परमात्मा को योगी अपने अन्दर प्रत्यक्ष कर लेते हैं। वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करके मृत्यु के पाशों से प्राणी छूट जाता है।

卐 ❂ 卐

उपासना

श्री सूरजप्रकाश शर्मा

उपासना—संस्कृत साहित्य का शब्द है। संस्कृत के सभी शब्दों को यह गौरव प्राप्त है कि वह प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होते हुए भी प्रकृति-प्रत्यय के समुदित अर्थ का प्रतिपाद करते है। यह एक सिद्धान्त है।

सिद्धः सम्पन्नः अन्तः निर्णयो यस्मिन् स सिद्धान्तः।

इस सिद्धान्त के अनुसार उपासना शब्द में उप, आस् और अन् – ये तीन अंश हैं। इन में 'उप' उपसर्ग (उपसर्गाः क्रिया योगे १/४-५९ पा. अ.) आस् उपवेशने धातु और भाव अर्थ में युच् (अन्) प्रत्यय है। उपसर्गादि ग्रंथों में 'उप' उपसर्ग के समीप्य, सामर्थ्य, व्याप्ति, आचार्यकृति, दोष, दान, क्रिया, आरम्भ, पठन, पूजादि बहुत अर्थ लिखे हैं।

'उपगम्य आसनम्'—इति उपासना—समीप जाकर बैठने का नाम उपासना है।

'उपासनम् उपासना' अर्थात् शास्त्र विधि के अनुसार उपास्य देव के प्रति तैल धारा की भांति दीर्घकाल तक चित्त की एकात्मता को उपासना कहते हैं।

गीता के १२ वें अध्याय के तीसरे दो श्लोकों के शांकर भाष्य में—उपासनं नाम यथा शास्त्रमुपास्यार्थस्य तैल धारावत् समान-प्रत्यय प्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासन-माचक्षते।'

कहा भी है—"अभ्यासः सर्वसाधनम्।" सभी सिद्धियों का एकमात्र कारण अभ्यास ही है। जिस क्रिया के द्वारा हम अपने को अपने इष्ट के साथ विराजमान कर सकें उसी का नाम उपासना है।

चार लाख योनियों में मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है।

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्।

(विवेक चूड़ामणि)

तथा नर जन्म अति दुर्लभ है। श्री आद्य-शंकराचार्य जी ने कहा है –

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

सर्वश्रेष्ठ मनुष्य जन्म विद्या, योग्यता आदि प्राप्त करके भी जो मनुष्य आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह असद् ग्रह से आत्महत्या करता है। अतः धीर मनुष्य को आत्म कल्याण के लिए अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए।

मनुष्य को अपने कल्याण के लिए उपासना की आवश्यकता है। इस प्रकार जिस उत्तम उपाय की सहायता से दुर्लभ तत्त्व की प्राप्ति सुलभ हो जाए वही उपासना है। केवल मात्र अपने जीवन की कृतार्थता के लिए

ही नहीं अपितु विश्व कल्याण के लिए शास्त्रानुसार उपाय करना श्रेष्ठ उपासना है।

सच पूछा जावे तो उपासना बिल्कुल एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है जिसमें आत्मा और परमात्मा का जोड़-मेल किया जाता है, आत्म साक्षात्कार किया जाता है तथा ईश्वरीय महान विभूति रहस्यों की अनुभूति होती है।

उपासना की अति आवश्यकता के सम्बन्ध में भगवान् पतञ्जलि देव अपने योगदर्शन में सूत्र द्वारा संकेत कर रहे हैं कि—

स हि क्रियायोगः समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।

अर्थात् निश्चय ही वह क्रिया (उपासना) योग समाधि की सिद्धि के लिए और क्लेशों को शिथिल करने के लिए है।

जीवात्मा की परमात्मा में मन की समावस्थ और तीव्र योगाभ्यास पूर्वक सद्बुद्धि की मनमयता, एकाग्रता हो जाना ही समाधि है।

उपासना के बिना हम किसी भी प्रकार आत्म सुख लाभ कदापि नहीं पा सकते। काम, क्रोध, तृष्णा, लोभ, राग, ईर्ष्या, मोह, द्वेष, अविद्या, मान अपमान, आलस्य, प्रमाद, दम्भ, अहंकार, हिंसा, दुर्वासना, व्यभिचार, इत्यादि कभी भी जीवात्मा के हृदय से बिना उपासना नष्ट नहीं हो सकते। इस सब चोरों की निवृत्ति नाश के लिए और शम, मद, मैत्री दया, करुणा, प्रेम, शान्ति, शक्ति आदि दिव्य वृत्तियों के साथ-साथ परमात्मा के दिव्य-प्रकाश की प्राप्ति के लिए उपासना अनिवार्य है।

ईश्वर और जीव के स्वरूप पर विचार करने से सभी जीवों को उनकी उपासना करने की अत्यन्त आवश्यकता एवं व्यवस्था प्रकट होती है—जैसे श्रीकृष्ण भगवान जी ने स्वयं संकेत दिया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

अर्थात् इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।

ईश्वर अंश जीव अविनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

अंश का अर्थ हिस्सा (भाग) होता है जो वस्तु जिसके भाग की होती है, वह उसी की होकर रहती है और उसी के उपभोग के लिए रहती है। ईश्वर के अंश होने से जीव ईश्वर के भोग्य हैं। इन्हें हर स्थिति में हर अवस्था में शरीर के सभी अंगों से उसी के सेवक भोग्य भूत होकर रहना चाहिए, यही परम उपासना है। मनुष्य को शान्त चित्त से उसी ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
समीप सेवा विधिना उपास्तिरिति कथ्यते ।

—कुलार्णवतन्त्र १७/६७

सदा सभी प्रकार से समीप रहकर सेवा करना उपासना है। गीता में तीन प्रकार की उपासना भगवान श्रीकृष्ण जी द्वारा कही है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगे चापरे ॥

कितने ही लोग ध्यान द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, कोई सांख्ययोग के द्वारा और कई कर्मयोग के द्वारा।

मनुजी महाराज लिखते हैं कि ध्यानोपासना से भगवद्दर्शन करके साधक उपासक मुक्त हो जाता है। जैसे—

ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः।
सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते॥
…………ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्।

और उपासना का यही सर्वोपरि तथा तथा श्रेष्ठ फल है। गीतामें उपासना के तीन मार्ग हैं। भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। सत्य-तत्व की प्राप्ति के लिए जो किया जाये उसे उपासना कहते हैं।

भक्तियोग—यह सब परमात्मा ही परमात्मा है। वही आदि अन्त मध्य में है।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनंजय! मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह संपूर्ण जगत सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुथा है। सत् असत् सब कुछ परमात्मा ही है। सत्य तत्व की ऐसी उपासना भक्तियोग की पद्धति से उपासना है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

सांख्ययोग की उपासना असत् का त्याग करके। असत् की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है।' सत की उपासना की जाती है। कर्मयोग में भी सत की उपासना है।

भगवान ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

'इसके कृत प्रयत्न का नाश नहीं होता।' इस प्रकार सत्य वाला मार्ग अति उत्तम है।

गीता में भगवान जी ने २ श्लोकों में सत् शब्द की व्याख्या की है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिःसदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते॥

सत् कहते हैं—सत्ता का होना, जिसका कभी नाश न हो। वह सर्वत्र विद्यमान है।

संसार से मन हटाकर चला और महाप्रभु जी के पास बैठना उनकी उपासना है। थोड़ी देर जप करलें, पाठ-पूजन हवन करलें। यह असली उपासना है क्या? असली उपासना का तात्पर्य है, हर समय उसी में हो। यह सच्ची उपासना है। इसकी सिद्धि अवश्य होती है। यह मनुष्य शरीर इसी लिए मिला है। संसार के लिए मिला होता तो संसार की सिद्धि हो जाती, किन्तु संसार की सिद्धि कदापि नहीं हुई। इसलिए परमात्माकी प्राप्ति के लिए ही मनुष्य शरीर है, उसकी उपासना करना हमारा ध्येय है। उपासना का प्रभाव छिपाये नहीं छिप सकता। कहा भी है—

भजन करो पाताल में प्रगट होय आकाश।
दाबी दूबी न रहे, रहे कस्तूरी की बास॥

जिसने परमात्मा की ओर चलना प्रारम्भ कर दिया है अथवा जिसने परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, उसका आचरण बदल जाता है। उसके शरीर में, बल बुद्धि में अन्तर आ जाता है। उसके प्रभाव से वायु-मण्डल में वैसा ही पवित्र बन जाता है, प्रकृति अपने को सफल मानती है।

✡✡✡

सदोपदेश—दोहावली

※ महाकवि श्री शङ्कर

जाके मन, वच, कर्म में पर-हित सत्य प्रधान,
ता विद्यानिधि देव की कर सेवा गुरु मान।

जो जीवन के अन्तलों करता रहा सुकर्म,
धन्य उसी का मित्र है सत्य सनातन धर्म।

सज्जन को आदर मिले पिटैं कुचाली क्रूर,
चन्दन मस्तक पै चढ़े जारे जात बबूर।

सुमन सरोवर में खिले सदुपदेश अरविन्द,
देख दुष्ट दादुर दुरें सेवत साधु मिलिन्द।

शंकर सुन्दर रूप को तन की शोभा जान,
मन की शोभा सांच है धन की शोभा दान।

तन से सेवा कीजिए मन से भलो विचार,
धन से या संसार में करिये पर-उपकार।

मन में राखें और कछु वाणी में कछु और,
कर्म करें कछु और ही झूठे तीनों ठौर।

ऊंचन की मिल नीच सों होत प्रतिष्ठा भंग,
गंगाजल खारी भयो पाय सिन्धु को संग।

कहां अविद्या को भयो विद्या के ढिग वास,
सांच कहो तो कब रह्यो तम तमारि के पास।

जिनके लिये समान है मान और अपमान,
तिनको या संसार में सन्त-शिरोमणि जान।

सुख में बनै न आलसी दुख में तजे न धीर,
शंकर कहा न कर सकै ऐसो नरवर वीर।

आलस रोग दरिद्र मद झूठ अविद्या रार,
जा घर में ये सात सो दुक्खन को भण्डार।

लागे लालच मोह मद काम-क्रोध ये पांच,
जीवत छूटें न जीव को सदा नचावत नाच।

❊ साधना-विज्ञान ❊

❀ श्री पं० रामनिवासजी शर्मा 'सौरभ'

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के लिये जो स्वाभाविक उपाय किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं, परन्तु धार्मिक दृष्टि से विशेषतः हिन्दू दृष्टिकोण से उस परम पुरुषार्थ को ही साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस साधना का अर्थ किसी भी प्रकार की क्रिया या कर्म होता है और वस्तुतः यही वास्तविक साधना भी है।

साधना का महत्त्व

पूर्वकथनानुसार साधना ही असल में प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति का उपाय है। यह सफलता की कुंजी है, कवि का कवित्व है, ऋषि का ऋषित्व है, क्योंकि ये सब साधना के ही द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। असल में संसार में प्रत्येक वस्तु या तत्त्व साधना से ही सिद्ध होता है। साधक को साध्यवस्तु साधना के द्वारा ही प्राप्त होती है। सारांश यह कि सब कुछ साधना का ही विषय है।

साधना सौन्दर्य

साधना का सौन्दर्य इसी में है कि वह दिव्य-सौन्दर्यात्मक हो, उसकी प्रत्येक बात अपने दिव्य साध्य की उत्पादक हो, वह स्वयं सत्य, शिव और सौन्दर्यमय हो, हृदय के प्रसुप्त स्वर्गीय सौन्दर्यात्मक भावों और विचारों को क्रियात्मक बनाने वाली हो, उसमें दिव्य आध्यात्मिक गन्ध और सरसता हो, साथ ही वह अलौकिक माधुर्य और ऐश्वर्य की व्यञ्जना से व्यञ्जित हो। उसकी सजीव कर्ममय स्वर-लहरी से अनन्त का निनाद निकलता हो कि जिससे मानव-मन और हृदय सौन्दर्य के स्वर्ग में परिणत हो जावे, तभी वह वास्तविक साधना कहलाने के योग्य हो सकती है।

'उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः ,'

ऐसी दशा में सहज में यह बात सामने आती है कि साधना अपने कार्य-कारणात्मक भावों और फलों से पहचानी जाती है। साथ ही वह सच्ची तभी हो सकती है जब कि उससे दिव्य भाव की प्राप्ति हो। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में योग के अष्टाङ्ग अथवा अष्टाङ्ग-प्रधान सम्पूर्ण भाव - भावना और क्रिया को साधन माना है।

साधना के अङ्गावयव

साधना के अङ्गावयव इस प्रकार हैं—

(क) अधिकार (ख) विश्वास (ग) गुरु-दीक्षा (घ) सम्प्रदाय (ङ) मन्त्र-देवता।

(क) साधना में अधिकार-भेद की अपार महिमा है। अधिकारी की परवा न कर असल में कोई भी साधक साधना द्वारा साध्य को नहीं प्राप्त कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब, जहाँ, जिस अवस्था में भी हो, वहीं से अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता है, उसे अधिकार और अवस्था-विरुद्ध अन्य मार्ग या सोपान से जाने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए सती 'सतीत्व' से और शूर 'शूरत्व' से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह है कि प्रत्येक अवस्था, धर्म और काल में ही प्रत्येक व्यक्ति साधना से लाभ उठा सकता है, साधारण साधारण से और विशेष विशेष से। परन्तु लाभ में दोनों ही समान रहते हैं। यही कारण है कि ब्रज की अहीरनियाँ और बनवासी ऋषि-महर्षि एक ही दिव्य स्थान को प्राप्त हुए हैं।

(ख) साधना में विश्वास भी अन्यतम साधन है। इसके अनेक कारण हैं, उनमें मुख्यतम ये तीन हैं—

१—विश्वास स्वयं एक दिव्य भाव है। वह त्रिपुटी का कारण और कार्य भी है। साथ ही जिस विश्वास में ज्ञान और प्रेम की पुट है वह तो दिव्य वस्तु ही होता है। परन्तु यहाँ विश्वास का तात्पर्य अन्ध विश्वास नहीं, अपितु वास्तविक तत्परता है।

२—आधुनिक दृष्टि से भी आत्म-विश्वास एक महतो महीयान् तत्त्व है और यही असल में सिद्धि का साधक है, इसी की प्रेरणा से कर्मठ को इष्ट-फल प्राप्त होता है। यह वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

३—परन्तु इसकी योगात्मक व्याख्या विचित्र है। और यही असल में विश्वास-तत्व की आत्मा की साधना है। इसका सुगुप्त रहस्य इस प्रकार है—

विश्वास शब्द 'वि' उपसर्ग और 'श्वास' के योग से बना है। इसका साधारण अर्थ यहाँ साधक का श्वास रहित होना है, परन्तु इसका योगात्मक अर्थ श्वास अर्थात् इड़ा-पिङ्गला नाड़ी के साम्य द्वारा संकल्प तथा ज्ञानकी विशुद्धि और आत्मैश्वर्यकी प्राप्ति है।

(ग) साधना का गुरु दीक्षा से भी समधिक सम्बन्ध है। यद्यपि अनेक बार बिना गुरु-दीक्षा भी किसी बाह्य अथवा आन्तरिक प्रेरक कारण से अथवा संस्कारों के प्राबल्य से मनुष्य स्वतः सन्मार्ग के द्वारा लक्ष्य-बिन्दु तक पहुँच जाता है, फिर भी इसका प्रशस्त राजमार्ग तो गुरु-दीक्षा ही है। दीक्षा में भी मुख्य वस्तु शक्तियों की मन्त्र द्वारा जागृति और भाव-भावना का उद्बोधन है। सच्चा गुरु मन्त्र-शक्ति द्वारा यथाधिकार शिष्य में साधना-विषयक

शक्ति का संचार कर देता है। इससे शिष्य फिर स्वतः साधना-पथपर अग्रसर हो जाता है।

(घ) साधना में साधक का साम्प्रदायिक होना भी आवश्यक है। यहां सम्प्रदाय का अर्थ है--साधना सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करना और सत्संग का लाभ उठाना। परन्तु इसका सच्चा लाभ तो इस प्रकार है—

जन्मान्तरीय संस्कारों के सिद्धान्तानुसार जन्म से वर्ण या जाति मानने पर वर्ण और जाति के परम्परागत गुण सदैव विकासोन्मुख रहते हैं, इसी प्रकार एक ही परम्परागत सम्प्रदाय में सुदीक्षित होते रहने के भी अनन्त लाभ हैं, इससे भी सम्प्रदायात्मक गुणों के संस्कार स्वतः विकासोन्मुख हो जाते हैं।

(ङ) साधना में मन्त्र और देवता का भी विशेष स्थान है। साम्प्रदायिक दृष्टि से मन्त्र-देवतात्मक दीक्षा अनिवार्य है, परन्तु मन्त्र और देवता दो वस्तुयें होती हुयीं भी एक ही वस्तु है। इन दोनों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, ये दोनों असल में एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि मन्त्र की आत्मा ही देवता है और देवत्व का स्थान मन्त्र है। देवता असल में मन्त्रात्मक ही है और इसलिये भी कि मन्त्र के द्वारा ही देवता का आकर्षण होता है। किन्तु देवता का चुनाव शिष्य के संस्कारानुसार ही किया जाना चाहिये और देवता के अनुरूप ही मन्त्र का चुनाव भी। साधक, देवता और मन्त्र—ये एक ही वस्तु-विकास के विभिन्न स्तर हैं और इनका समन्वय ही अन्त में साधक को मुख्य ध्येय तक पहुँचा देता है। इस तरह साधक, मन्त्र, इष्ट-देव, महाशक्ति, परमतत्त्व और मुक्ति आदि सब एक ही विकास के विविध स्तर हैं और ये ही अन्त में ब्राह्मी स्थिति में परिणत हो जाते हैं।

साधना का मुख्य उद्देश्य

साधना के द्वारा आत्म-लाभ होता है और आत्म-लाभ के द्वारा दिव्यत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त हो जाती है। आत्मलाभ का ही फल अनन्त विभूतियों की प्राप्ति भी है। भारतवर्ष कर्म-प्रधान और साधना-प्रधान देश है, परन्तु इसकी साधना मुक्ति-परक, आत्म-परक अथवा ब्रह्म-परक है। आप किसी भी सम्प्रदाय पर दृष्टिपात करें, उसमें साधना का अभिप्राय यही मिलेगा। मन्त्र-तन्त्र-सम्प्रदाय के अनुयायियों का भी विश्वास है कि—

मन्त्राभ्यासेन योगेन
ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते।
न योगेन विना मन्त्रो
न मन्त्रेण विना हि सः॥
द्वयोरभ्याससंयोगो
ब्रह्मसंसिद्धिकारणम्।
.... ॥

इसका अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक सम्प्रदाय का साधनात्मक ध्येय उच्च और स्वर्गीय ही है। इस समय भी महात्मा गांधी की गति-मति और राजनीति में मुक्ति की ही प्रधानता है। मुक्ति भी केवल भारत की ही नहीं, अपितु समस्त विश्व की और वह भी सत्य और अहिंसा के द्वारा।

साधना के मूल तत्त्व

साधना के मूल तत्त्व तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान हैं। इनसे साधक की शक्ति और ज्ञान की वृद्धि होती है। स्वाध्याय से ज्ञान और तप से शक्ति बढ़ती है। साथ ही ज्ञान और शक्ति द्वारा ही साधक परम साध्य तक पहुँच जाता है। परन्तु श्री अरविन्द के मत से तो अभीप्सा ही साधना की मूल भित्ति है, इसीसे सब कुछ हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द के मत से प्रत्येक प्रकार की साधना से मनुष्य परम-तत्त्व के मार्ग का यात्री हो सकता है।

महात्मा गांधी अहिंसा और सत्य के द्वारा ही बड़े से बड़े लक्ष्य तक पहुँचना बताते हैं। प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य और तपको ही मुख्यता देते हैं। पातञ्जल योग चित्त-वृत्ति के निरोध को ही परम पुरुषार्थ और साधना बताता है। स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्द जी परमहंस ने भक्ति को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र बताया है। वस्तुतः किसी भी सात्विक उपाय द्वारा गन्तव्य मार्ग की ओर चल देना ही वास्तविक साधना है। बस, फिर पूर्व-जन्म के संस्कार स्वयं अपना काम करने लगेंगे।

साधना का सरल उपाय

साधना में आवरण को हटाने के लिए विघ्नों का सामना करने और अभावों को हटाने की अपेक्षा सद्भावों को उत्पन्न कर उन्हें सुपुष्ट करना ही सिद्धि का सर्वोत्तम उपाय है। इससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जाते हैं और अति शीघ्र सफलता हस्तगत हो जाती है, क्योंकि किसी सीधी रेखा को हाथ के द्वारा छोटी करने की अपेक्षा उसके बराबर एक बड़ी रेखा खींच देना ही ठीक है, उससे वह अपने आप छोटी हो जायगी। यही दशा मल, विक्षेप और आवरण की भी है। ये भी सात्विक तत्त्वों के सेवन से अपने आप नाम-शेष हो जाते हैं। पातञ्जल योग में इसी सरल सत्य को इस तरह समझाया गया है—

'अक्लिष्ट वृत्ति के संस्कारों के द्वारा क्लिष्ट वृत्ति के संस्कार अपने आप नष्ट हो जाते हैं।'

साधना का स्वभाव

स्वभाव से समस्त जीव-राशि उस अनन्त सत्य वस्तु की ओर ही जा रही है। आत्मा की गति असल में परमात्मा की ओर ही हो

एक घटना

श्री रामसजीवन सिंह

रहते यद्यपि दूर हैं, योगेश्वर सुखधाम।
फिरभी समय गुहारपर, करें भक्तका काम।
करें भक्त का काम दया की वर्षा करते।
इसीलिए तो नाम दुखीजन इनका जपते॥
प्रिय भक्तों की बागडोर निज कर में गहते।
संसृत सागर में गोते जो खाते रहते॥

पिछले एक लेख में मैंने श्री ज्ञानचन्द्र जी, निवासी ४६४ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद की एक घटना दी थी, जिसे "सिद्धयोग" में प्रकाशित किया गया था। इन्हीं के दामाद लुधियाना निवासी श्री जगदीश के साथ भी एक चमत्कार हुआ। इसकी सूचना उन्होंने एक पत्र द्वारा श्री ज्ञानचन्द्र जी को दिनांक २६ नवम्बर १९८० को दी थी। उनकी अनुमति से इसका उल्लेख पाठकों के लिए कर रहा हूँ। घटना इस प्रकार है—

सीवर में गिरने से श्री जगदीश के सीने में चोट आ गयी थी। उन्होंने डाक्टरों की सलाह से एक्स-रा करवाया। एक्स-रे की रिपोर्ट में फ्रैक्चर दर्शाया गया था। एक्स-रे के पश्चात्

[पिछले पृष्ठ का शेष]

सकती है, विजातीय वस्तु की ओर नहीं, नदियां समुद्र में ही जाकर रहती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डात्मक जड़-चेतन का अन्तिम ध्येय असल में आत्म-लाभ ही है।

सब कुछ साधनात्मक

हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप साधनामय ही हैं। ऐसी दशा में हम कुछ भी करें, कहें और सोचें, सब कुछ साधना ही है, परन्तु इन क्रियाओं का समन्वय साधनात्मक तत्त्वों के साथ होना चाहिए। साथ ही इनमें आवश्यक सामञ्जस्य भी पर्याप्त मात्रा में हो। ऐसी दशा में प्रत्येक साधना-सम्पन्न मार्ग और सम्प्रदाय यथाधिकार पृथक् होता हुआ भी एक ही सम्पूर्ण लक्ष्य का प्रदर्शक हो जाता है। यही कारण है कि लता-गुल्म, कीट-पतंग पशु पक्षी और देव-मानव सब ही अपनी-अपनी योनि और स्थान से ही कभी न कभी अन्तिम लक्ष्य की ओर ही पहुँचकर रहते हैं।

उनको गहरी चिन्ता हो गयी। श्री ज्ञानचन्दजी की पुत्री श्रीमती कमलेश प्रभुजी की भक्त हैं। पति की हालत को देखकर उसको कष्ट होना स्वाभाविक ही है। अपने भक्तों की रक्षा करना हमारे प्रभुजी का स्वाभाविक गुण है।

दिनांक २३ नवम्बर, १९८० को श्री जगदीश के सीने में दर्द इतना बढ़ गया कि असहनीय हो गया। ऐसी स्थिति में एकाएक लगभग १० बजे दिन को हमारे गुरुदेव योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज उनके समक्ष पहुँच गये। जैसा इसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने अपने पत्र में स्वयं लिखा है, "एकदम १० बजे के करीब एक बाबा से आये उनकी शक्ल श्री गुरु जी के साथ मिलती-जुलती थी।" प्रभु जी ने कहा, "तुम्हारे एक्स-रे की रिपोर्ट गलत है और तुम दुबारा जाकर डाक्टर से पूछो।" १२ बजे वे एक्स-रे लेकर पुनः डाक्टर के पास गये तो पता चला कि एक्स-रे की रिपोर्ट गलत है, फ्रेक्चर नहीं है। उन्होंने स्वयं श्री ज्ञानचन्द जी को अपने पत्र में लिखा है, "मैं तो कुछ समझ नहीं सका। एक्स रा वही है और रिपोर्ट भी वही मगर बदल कैसे गया। खैर डाक्टर भी चक्कर में है उसने दवाई दी और अब मैं ठीक हूं।"

उक्त घटना घटित होने के उपरान्त उसी दिन से उनकी इच्छा गुरु जी से मिलने की प्रबल हो गई है। संक्षेप में कहना चाहूँगा—

करते दीक्षित शिष्य का, निश्चय ही कल्याण।
आवश्यक हो जाय तो, पहुँच बचाते प्राण ॥
पहुँच बचाते प्राण सगे सम्बन्धी तक का।
इनकी कृपा काम कर जाती है पारस का ॥
ऐसे सद्गुरु देव साधकों का दुःख हरते।
जो छल छोड़ निरन्तर इनका चिन्तन करते ॥

卐 卐 卐

❁ आत्मोन्नति का एक साधन—विचार ❁

हम जैसे विचारों का सेवन करेंगे वैसे ही हो जायेंगे। विचार ही हमारे जीवन का निर्माण करते हैं—ऐसा कहने में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। हमारा मन सर्वदा अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करता रहता है। मन के ये संकल्प अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। जिस प्रकार अच्छा भोजन शरीर के लिए लाभकारी है उसी प्रकार अच्छा विचार मन के ऊपर अच्छी छाप डालता है। सात्विक बलवान और परिष्कृत विचार हमारे मन को अलौकिक शान्ति, धैर्य, बल और स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसके विपरीत निर्बल और हल्के विचार हमें निर्बल और भीरु बना देते हैं।

—श्रुतिसार

卐 विदेह योगी राजा जनक 卐

❀ श्री विजयसिंह, प्रवक्ता गोरखपुर

सामान्य जन भी महाराजा जनक का नाम राजा के रूप में कम अपितु योगी के रूप में अधिक जानते हैं। एक ऐसा योगी जो सारे सांसारिक विषयों के भोगों को भोगता हुआ भी भोगों से अलिप्त रहता है। काया में स्थूल इन्द्रियां हैं। इन इन्द्रियों के माध्यम से भोगों का विषद अनुभव होता है। परन्तु ऐसा व्यक्ति जो अपने मन पर इतना नियंत्रण कर चुका है कि वह विषयों के प्रत्यक्ष होने पर भी उनमें संग नहीं करता, वह देह धारणा किये हुए भी विदेह है।

भगवान् पतंजलि ने विदेहावस्था का जिक्र समाधि पाद के अन्तर्गत सूत्र १९ में किया है—

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम् ॥१९

ऐसे साधक जो साधना के द्वारा विदेह अथवा प्रकृतिलय कर चुके हों परन्तु कैवल्य को प्राप्त न हो सके हों उन्हीं का भव प्रत्यय् होता है।

इससे यह विदित् होता है कि जो कैवली-भाव को प्राप्त नहीं हो पाये हैं उनका जन्म होता है—और यह जन्म ही उनके कैवल्य लाभ का कारण बन जाया करता है। ऐसे जन्म को जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने दुर्लभतर बतलाया है। क्योंकि योग भ्रष्ट ही दुर्लभ जन्म को प्राप्त करते हैं। ऐसे योगी जन्म से ही योगानुभूति से युक्त होते हैं। जड़-भरत, जनक, शुकदेव आदि ऐसे ही महा-पुरुष हैं।

विदेहावस्था की पराकाष्ठा महाविदेहा-वस्था है। सूत्र ४३, विभूतिपाद में दर्शनकार महर्षि पातंजलि ने लिखा है—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा
ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥

अर्थात्:—शरीर के बाहर अकल्पित स्थिति का नाम महाविदेह है। ऐसे साधक योगी की ज्ञानशक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है।

साधना के रूप में जब योगी अपने मन को शरीर से बाहर स्थिति दृढ़तर कर लेता है तब उसे विदेहत्व की उपलब्धि होती है। मन के शरीर में सामान्य रहते हुए भी केवल

भावनामात्र से ही होती है तब तो कल्पित है ओ- जब शरीर से सम्बन्ध छोड़कर बाहर निकले हुये मन की बाहर स्थिर दृढ़ स्थिति हो, तब अकल्पित होती है। इसी को महा-विदेहा कहते हैं। यह स्थिति इन्द्रिय और मन की स्वरूपावस्था में संयम करने से होती है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः
प्रधानजयश्च ॥४८॥

विदेहावस्था वाले योगियों को (१) मन के सदृश गति=यह शरीर और इन्द्रियों सहित मन की तरह क्षण मात्र में कहीं से कहीं अभिलिषित जगह पहुँच जाना, (२) विकरण-भाव=स्थूल शरीर के बिना ही दूर देश में स्थित वस्तुओं को प्रत्यक्ष करने की ताकत, (३) प्रधानजय=कार्य और कारण रूप में स्थित प्रकृति के सम्पूर्ण भेदों पर पूरा अधि-कार हो जाना।

उपरोक्त सिद्धान्तों में वर्णित विदेहा तथा महाविदेहा अवस्था का स्वरूप, कथानकों द्वारा अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है। महाराज जनक जिनका दूसरा पर्याय नाम विदेहराज है, उनसे सम्बन्धित कुछ कथाओं को देखें—

यद्यपि जनकपुरी में होने वाले सभी राजाओं को विदेहत्व प्राप्त होने के कारण विदेहराज ही कहा जाता रहा है इसलिये इन कथाओं में किसी विशेष विदेहराज की धारणा करना उपयुक्त न होगा।

एक बार किसी मुनि ने जनक जी से पूछा--आप राज्य संचालन करते हुये भी कैसे विदेहत्व को प्राप्त रहते हैं। राज्य कार्य में नाना प्रकार की चिन्तायें रहा करती हैं किसी को दण्ड देना हो, निग्रह करना हो तो मन में द्वेष भाव हो ही जाता है। आप इन नानत्वों में भी कैसे विमुक्त हुये रहते हैं।

महाराज जनक ने कहा—ब्रह्मन ! आप कुछ काल यहां रहें। आपकी शंका की निवृत्ति होगी।

कुछ दिनों बाद राजा ने मुनि को बुला-कर कहा—ब्रह्मन ! क्या आप इस दुग्ध पूरित पात्र को लिये हुये मिथला के बाजार में घूम-कर आ सकते हैं ? शर्त यह कि एक बूंद दूध न गिरने पाये। मुनि ने कहा—राजन ! इसमें कौन सा कठिन कौशल है। कोई भी घूम सकता है। मुझे दें मैं अभी आता हूं।

राजा ने कहा—यदि गिर गया तो ?

मुनि ने दृढ़तापूर्वक कहा—गिरने पर आप जो भी उचित दण्ड समझें दें। राजा ने कहा—ठीक है, आप कटोरे को लेकर चलें, चार सिपाही नग्न खड्ग लेकर साथ जायेंगे। जहां दुग्ध छलकेगा वे आपका सिर धड़ से अलग कर देंगे।

मुनि ने वैसा ही स्वीकार किया, चित्त को दुग्ध कटोरे में प्रयास पूर्वक एकाग्र करके परिक्रमा के लिए निकले और थोड़े समय बाद सकुशल दरबार में लौट आये।

राजा ने पूछा--ब्रह्मन ! मेरी नगरी का बाजार कैसा है ? इसमें आपने क्या क्या देखा।

मुनि ने कहा---राजन ! मुझे तो कुछ भी पता नहीं।

राजा हँस पड़े ! मुनि को विदेहत्व का रहस्य समझ में आ गया। जब तक मन का क्रिया से संयोग न हो तो आंखें खुली रहने पर भी नहीं देख सकतीं।

जीवन में मरना भला

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम.एड.

जीवन और मृत्यु जीवन के ऐसे सत्य हैं जिनको हर व्यक्ति स्वीकार करता है। हर जीवन में जन्म के साथ ही मृत्यु छिपी रहती है किन्तु हम जन्म पर खुशियां मनाते हैं और मृत्यु पर शोक करते हैं। हमने सब कुछ सीख लिया है। आकाश में पक्षियों की तरह उड़ना सीख लिया है। पानी में मछलियों की तरह तैरना सीख लिया है किन्तु जीने और मरने की कला बहुत कम लोग सीख पाते हैं। जीना और मरना यदि ठीक प्रकार से कोई जानता है तो वह योगी ही जानता है। मृत्यु में जन्म छिपा होता है। जो मरना सीख जाता है वह अमर हो जाता है। हर व्यक्ति का मरण नकली होता है, एक नाटक होता है। इसीलिए मरने के बाद जन्म लेता है फिर मरता है और इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। कबीरदास जी कहते हैं—

मरता मरता जग मुआ, सांचा मुआ न कोय।
दास कबीरा यों मुआ, बहुरि न मरना होय॥
जीवन में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरना पहले जो मरै, अजर अमर सो होय॥

योगी को मृत्यु एक महोत्सव बन जाती है। योगी मृत्यु से ही दिव्यता पाता है। अतः मृत्यु का वरण खुशी-खुशी करता है। जो सहर्ष मृत्यु का वरण करता है वह आनन्द से भर जाता है। नचिकेता मृत्यु के देवता का वरण कर तत्वज्ञान प्राप्त कर सका। यम से शिक्षा प्राप्त करने का कथानक योग की रहस्यमयी मरण क्रिया का कथा के रूप में चित्रण है। कबीर जैसे योगी मृत्यु के लिये लालायित होकर कहते हैं—

जा मरने से जग डरै, मोहि बड़ा आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द॥

कबीर ने मरने से बचने के लिए मरने से पहले मरने की सलाह दी है। उनकी सलाह मानकर खुद कभी और आत्महत्या मत करने लग जाना। आत्महत्या करने पर दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता बल्कि दुःख में प्राण छोड़ने पर दुःख भरी निम्नकोटि की योनियां में जाना पड़ता है। आत्महत्या करने वाले प्राणी अन्धकारमय असूर्या नामक लोक में जाते हैं। उपनिषद् में आत्महनन का परिणाम बताते हुए ऋषि कहते हैं -

असुर्या नाम ते लोकाः
अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति
ये के चात्महनो जनाः ॥

आत्महत्या का जब ऐसा दुष्परिणाम है तो कबीर मरने की सलाह क्यों देते हैं। एक शायर ने भी ऐसा ही कहा है—

'अल्लाह अगर तौफीक तुझे दे,
तो मरने से पहले मर जाना।'

मरने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है तो सभी एक न एक दिन मरते ही हैं, सभी को परमानन्द प्राप्त हो जायगा, फिर बेचैनी किस बात की? ऐसा नहीं अपने हाथों जो खुद अपने को मारता है, वही अमरत्व का पान करने का अधिकारी बनता है। अपने हाथ से अपनी मृत्यु नहीं कर सकता वह कातिल की तलाश करता फिरता है—

जब से सुना है हमने
मरने का नाम जिन्दगी है।
सिर पर कफन को बांधे
हम कातिल को ढूंढते हैं॥

योग की भाषा रहस्य भरी होती है। वह अनजान को चक्कर में डाल देती है। उसका अभिप्रेयार्थ ग्रहण करने से पञ्चमकार के सेवन के नाम पर वाममार्गी मद्य, मैथुन, मुद्रा, मीन तथा मांस का सेवन करने लगे हैं। हठयोग में इन शब्दों का प्रयोग अन्तर जगत् की सूक्ष्म क्रियाओं के लिए हुआ था। गुरु परम्परा से उसका सही अर्थ प्रकट होता है। अज्ञान के कारण लोगों ने अर्थ का अनर्थ कर दिया। जैसे गोमांस भक्षण का तात्पर्य गो=इन्द्रिय, मांस=विषय, इन्द्रियों की विषयों से उपरति विषयासक्ति को भक्षण करना, नष्ट करना है न कि गाय का मांस खाना। इसी प्रकार मरण का अर्थ हठयोग के द्वारा नाड़ी शुद्धि, महाभूत शुद्धि, मरुज्जय तथा मनोजय है और कातिल का अर्थ श्री सद्गुरुदेव हैं जो अहंकार के वृक्ष का समूलोच्छेद कर देते हैं। अहंकार की ही सृष्टि चित्त, प्राण, मन, इन्द्रियां तथा देह है। अहंकार के नाश से उसका वंश नष्ट हो जाता है। इसीलिए योगियों ने कहा है—

हठेन मृत एवासौ, मृतस्य मरणं कुतः।

जो हठयोग के द्वारा अपने इन्द्रिय विकारों को मार देता है, वह फिर नहीं मरता क्योंकि तत्व विजयी होने पर वह काल की हद से परे हो जाता है। मृत्यु जीवित का ही संहार करती है। मरे हुए को नहीं मारती, क्योंकि मरे हुए की मृत्यु नहीं हुआ करती। इसीलिए योगी अपने मन और प्राणों को विभिन्न साधनाओं द्वारा लय कर लेते हैं जिससे वे कालसिद्ध हो जाते हैं।

पंचभूतात्मक इस पिण्ड में सप्त धातु तथा तीन गुण हैं। इन्हीं के परिणाम स्वरूप सुख दुःख, काम क्रोध, भय चिन्ता, लोभ-मोह,

अहंकार, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, अशक्ति, शोक, निद्रा, भूख-प्यास, राग-द्वेष, लज्जा, हर्ष-विषाद, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि दोषों से संयुक्त होकर यह सर्व शक्तिमान शिवत्व-तत्व जीव बन जाता है। यदि शरीर के उपर्युक्त दोषों को नष्ट कर दिया जाय तो यही शरीर शिव-शक्ति का अधिष्ठान बन सकता है, जहां न जरा होगी न मृत्यु होगी। देहासक्ति का मूल आधार इसे ही आत्मा मानना है। अहंकार ही समस्त दुःखों का कारण है। जब अहंकार नष्ट हो जाय तो शरीर का रूपान्तर हो जाता है। यही अपने आपको मारना है। 'जहाँ आपा तहँ आपदा, जहँ संशय तहँ शोक। अतः अपने को मारने के लिए अहंकार को नष्ट करना होगा—

अहंकृति र्यदा यस्य,
नष्टा भवति तस्य वै।
देहः स तु भवंन्नष्टो,
व्याधयस्तस्य किं पुनः॥
(योगबीज ४४)

जब अहंकार नष्ट हो जाता है तो उसका शरीर भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि शरीर अहंकार का ही कार्य है। शरीर न रहने पर शरीर में होने वाले रोग, शोक आदि भी नहीं होते—

जलाग्नि शस्त्रघातादि बाधा,
कस्य भविष्यति।
यथा यथा परित्यक्ता,
तुष्टा चाहङ्कृतिर्भवेत्॥
(योगबीज ४५)

देह का मूल अहंकार है। अहंकार के नष्ट होने पर देह को शस्त्र, अग्नि तथा जल के द्वारा कोई कष्ट नहीं होता। कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं रहता। उसी प्रकार अहंकार रूपी कारण के न रहने पर देह में दुःख कैसे रह सकता है।

अहंकार का पूर्ण विसर्जन, रूपान्तरण तथा नाश वेदान्त वाक्यों के अभ्यास से नहीं हो सकता। एक बार मुझे एक रात एक ख्याति प्राप्त महात्मा के पास रहने का अवसर मिला। घटना पुष्कर तीर्थ की है। वे महात्मा मुझे बहुत स्नेह करते थे, इसलिए उनके पास जाने की इच्छा होती थी। उनका स्थान भी रमणीय था अतः यह भी मन में लोभ था कि कुछ दिन वहां रहकर अपना अभ्यास करूं। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के स्वतन्त्र विधान के कारण वहां अभ्यास करने का सुअवसर तो नहीं मिल सका। उनका नाम उल्लेख करना उनके शिष्यों की श्रद्धा को स्पर्श करना होगा, अतः अनुचित है। सायंकाल की आरती के पश्चात् वे भावाविष्ट

होकर अपने पलंग पर लेट गये। वहीं उनकी एक शिष्या तथा नवयुवक ब्रह्मचारी भी बैठ गया। आदरणीय महात्मा जी अपनी उसी दशा में कवितामय भाषा में बड़बड़ाते जाते थे— 'तू शरीर नहीं है।' नित्य चेतन, शुद्ध मुक्त आत्मा को शरीर मानने की तूने भूल क्यों की। अज्ञान का पर्दा हटा दे फिर देख तू शरीर नहीं आत्मा है आदि-आदि।' ऐसा कहते-कहते उन्होंने अपनी शिष्या को अपने निकट आने का संकेत किया। वह युवती शिष्या डरती-डरती भावाविष्ट महात्मा के समीप जैसे ही खड़ी हुई, महात्मा जी जोर से बोले—'तुझे अभी तक आत्म बोध नहीं हुआ? ऐसा कहने के साथ ही उन्होंने अपने हाथों की पूरी शक्ति से उसके मुँह पर थप्पड़ों का प्रहार प्रारम्भ किया और साथ ही मन्त्रोच्चारण भी जारी रखा —"तू शरीर नहीं आत्मा है। आत्मा को न सुख होता है न दुःख, न इसे अग्नि जला सकती है न जल गला सकता है..........।" मैं डरने लगा कि बेचारी के प्राण पखेरू न उड़ जायें। ईश्वर की बड़ी कृपा हुई। महात्मा जी ने गरजकर उससे पूछ लिया—'इस नश्वर शरीर का अध्यास गया कि नहीं? आत्मा का बोध हुआ कि नहीं? उस शिष्या ने स्वीकृति में सिर हिला दिया वैसे ही उसकी जान बची। इसके बाद उस नवयुवक ब्रह्मचारी को समीप आने का आदेश हुआ। उस ब्रह्मचारी पर भी उसी प्रकार का शब्दबोध तथा हस्त-प्रहार किया गया। ब्रह्मचारी के मुख के अलावा पीठ पर भी आत्म बोध का कार्य होता रहा। मेरी श्वास ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे रह रही थी। काफी देर के बाद उससे भी वैसी ही स्वीकृति ली गई— 'मैं देह नहीं आत्मा हूँ। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार मैं नहीं हूँ। मैंने इन्हें मार दिया है। अब मैं अजर-अमर अविनाशी आत्मा हूँ। मैं अपने अन्दर ही अन्दर डर रहा था कि कहीं मेरा भी इसी तरह आत्म-बोध न हो जाय। कई बार सोचता कि भाग जाऊँ, पर बाहर वर्षा हो रही थी और फिर उन आदरणीय महात्मा जी का सन्त स्वभाव तथा स्नेह मेरे वहां आने जाने का कारण था। वह दूसरी बात थी कि उस दिन पहली बार आत्म-बोध की उस प्रकार की साधना पद्धति मैंने देखी थी। जो सोचता था वही हो गया। महात्मा जी ने शब्द से तो नहीं बन्द आँखें किये हुए अंगुली से संकेत किया। मैं नीचा मुँह किये विचारों में कभी डूब जाता था कभी उतर रहा था। तभी उनके शिष्य ने मुझे सम्बोधन करते हुए कहा—गुरुदेव तुम्हें आत्म बोध कराना चाहते हैं और अपना आशीर्वाद देना चाहते हैं। देर मत करो झटपट उनके पास जाकर झुक जाओ।' इतना सुनते ही मुझे आत्म-बोध होने

लगा। एक क्षण में ही पूर्व देखे हुए दृश्य का स्मरण मेरा हंस पंख फैलाकर गगन में उड़ने की तैयारी करने लगा। उसी समय मेरी बुद्धि में किसी संत के संचित संस्कारों ने प्रबुद्ध कर मुझे साहस बँधाया और मैं निर्भीक होकर महात्मा जी के सामने जा खड़ा हुआ। अपने हृदय में स्थित श्री प्रभुजी की गोद में मैं बैठ गया तथापि बिजली की तरह शिष्यों की प्रताड़न स्थिति से मन भय-कंपित हो जाता। प्रभुजी के चरणों का चिन्तन कर उनसे लिपट कर मैं वहां खड़ा हो गया। उन महात्मा जी ने लपक कर मुझे पकड़ा और अपने शिष्यों की भांति मुझे भी आत्मबोध कराने को जैसे ही उद्यत हुए उनका ऊपर उठा हाथ ऊपर रह गया। वे छटपटाकर कहने लगे—"यह हमसे आत्म-बोध नहीं प्राप्त करेगा। इसके हृदय में इसके गुरुदेव विराजमान हैं। उनके सामने अब मेरी हिम्मत नहीं है कि मैं कुछ करूं।" उन महात्मा के द्वारा श्री प्रभुजी का गुणानुवाद सुनकर प्रभुजी के चरणों में मेरा प्रेम उमड़ पड़ा और भस्त्रा चल पड़ी। उसके बाद वहां का रंग-ढंग ही बदल गया। सभी ध्यानस्थ हो गये। फिर उन महात्मा जी ने अपने (वहां आये हुए) गुरुदेव के दर्शन के लिए मुझे आदेश दिया। मैं श्रद्धा से उनके साथ कुटिया के ऊपर विराजमान उनके गुरुदेव के दर्शन के लिए गया। उनके गुरुदेव रातभर हँसते ही रहते थे। उससे उनकी आंतें नीचे उतर गयीं थी। ऑपरेशन कराने के लिए वहां आये हुए थे। उनके चरण स्पर्शकर मैंने उनकी ओर देखा। बड़े प्रेम से उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और पूछा— 'तुम्हें इस प्रकार की स्थिति किसने दी है।' मैंने विनम्रता से उत्तर दिया—मुझे मेरे माता-पिता ने बचपन में सिखाया था—'जानिय सन्त अनंत समाना'—सन्त ईश्वर रूप होते हैं उनकी कृपा से ही कल्याण होता है। अतः मैं संतों के चरणों में सीखने के लिए आया हूं। वे मेरी इस बात से वे संतुष्ट नहीं हुए और पुनः उन्होंने अपना प्रश्न दुहराया। शास्त्र-नीति अनुसार पतिव्रता स्त्री को पति का नाम, राजा को अपना परिचय तथा शिष्य को अपने गुरुदेव का नाम सहसा नहीं बताना चाहिए। इस मर्यादा का ध्यान कर मैं अपने जीवन सर्वस्व गुरुदेव का नाम छिपा रहा था। उनकी जिज्ञासा देखकर मुझे कहना ही पड़ा कि मैं आनन्दकन्द करुणानिधान श्री गुरुदेव का अबोध बालक हूं। मैंने कोई साधना या अभ्यास नहीं किया। जो कुछ आप देख रहे हैं यह उन कृपानिधान की कृपा का एक कणमात्र है।

वे मेरा उत्तर सुनकर प्रसन्न हुए किन्तु योग की आलोचना करने लगे और वेदान्त की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने लगे। मैंने उनके

चरणों में नम्रता से प्रार्थना की कि आपकी अपनी निष्ठा वेदान्त की हो सकती है उसका यह अर्थ नहीं कि किसी सिद्धान्त का निरादर किया जाय। एक बार मन में इच्छा हुई कि किसी शास्त्रार्थ के लिए उन्हें निमन्त्रण दूं, किन्तु दूसरे क्षण ही मन में विचार हुआ कि अपने अहंकार के प्रदर्शन से वयोवृद्ध तपोनिष्ठ इन सन्त का निरादर करने से तुम्हें क्या मिलेगा। जो सत्य है वह सत्य रहेगा ही। उसके प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता। ऐसा विचार कर मैंने वह प्रसंग बदलकर उनसे प्रार्थना की कि वे मेरे कल्याण के लिए कुछ उपदेश करने की कृपा करें। मेरे विनीत भाव को देखकर उन्होंने भक्ति-सूत्र की पुस्तक निकाल कर मेरे हाथ में देदी और मुझे आदेश दिया, इसे पढ़कर सुनाओ। मैंने पढ़ कर सुनाना प्रारम्भ किया। जब ये वाक्य आये— यं लब्ध्वा आनन्दी भवति, तृप्तो भवति········ उन्मत्तो भवति········। वहां बैठे हुए सभी की ध्यान स्थिति हो गई। इस प्रकार प्रभुजी की कृपा-दृष्टि का आनन्द मिलता रहा और पूरी रात सत्संग का नशा रहा।

जो केवल ज्ञानी और विरक्त होते हैं वे स्थूल देह बन्धन से छूट भी जायँ तो संस्कार-रूप कारण शरीर बन्धन से बिना योग के मुक्त नहीं हो पाते। सिद्ध योगी गोरखनाथ घोषणा करते हैं—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि
धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि,
न मोक्षं लभते प्रिये !

(योग बीज ३२)

कितना ही बड़ा धर्मात्मा, इन्द्रियजयी तथा ज्ञानी कोई क्यों न हो जाय, योग के बिना उसे जीवन का चरम लक्ष्य कभी नहीं मिल सकता। क्योंकि योग के बिना देह मरने के बाद भी जीवित बना रहता है। इसीलिए बार-बार जन्मता और मरता है। वासना व कर्म संस्कारों का बीज जब तक नष्ट नहीं होगा उनका प्ररोह रूप जन्म-मरण और सुख दुःख भोग का सिलसिला चलता रहेगा। अपने आप को मारने का अर्थ है योगाग्नि द्वारा कर्म, संस्कार तथा जन्म-मरण की वासना के बीजों को जला देना। जैसे अन्नका दाना नमी, गर्मी तथा मिट्टी का संयोग पाकर उग आता है और एक दाने के हजारों और सहस्रों दाने बन जाते हैं उसी प्रकार शमदम, आदि से अलग किये गये संस्कार बीज— 'विषय बयार पाइ अंकुरे'—के नियमानुसार जन्ममरण का कारण बन जाते हैं। यदि दाने को अग्नि से भून दिया जाय तो फिर कितना ही खाद, जल, मिट्टी, धूप आदि उस दाने को मिले, वह उगता नहीं है। 'योगाग्नि दग्ध-कर्माणम् तमाहुः पण्डितं बुधाः' —गीता।

योगाग्नि से कर्म-बीज जब दग्ध हो जाते है तब व्यक्ति पण्डित—सच्चा ज्ञानवान् बनता है। उसके पहले का शास्त्रों का ज्ञान तथा स्वानुभव अज्ञान का ही एक रूप है। योग के बिना यह नहीं निश्चय हो पाता कि कहाँ किसका जन्म मिलेगा। योग के बिना जप, वैराग्य और ज्ञान केवल श्रम मात्र है। जैसे कोई थक कर बैठ जाय और कहे मुझे शान्ति मिल गई। थकावट से इन्द्रिय शिथिलता को शान्ति मानने की तरह शास्त्र-ज्ञान की शान्ति है। वास्तव में शान्ति अभावात्मक नहीं विधेयात्मक वस्तु है। बौद्ध-दर्शन दुःख के नाश को निर्वाण मानता है। केवल नाश से तो किसी वस्तु का अभाव होगा। मोक्ष अभावरूप नहीं है अपितु भावरूप है। द्रष्टा का स्वभाव ही मोक्ष है। इस प्रकार बौद्ध तथा योगदर्शन में निर्वाण तथा कैवल्य दो भिन्न शब्दों का व्यवहार इन अभाव तथा भावरूप दो भिन्न स्थितियों का बोध कराने के लिए आचार्यों ने किया है। शास्त्रका सिद्धांत है कि—

देहावसान समये चित्ते
यद् यद् विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीव
इत्येवं जन्मकारणम्॥

देहान्त के समय चित्त जिस वस्तु की भावना करता है वैसा ही उसका जन्म हो जाता है। जन्म का कारण भावना है। कोई ध्यान करने बैठता है तभी उसे चींटी काट लेती है। चींटी के काटते ही उसका सारा ज्ञान ध्यान अलग हो जाता है। मृत्यु के समय हजारों बिच्छुओं के काटने जैसी व्यथा के होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' इसके भाव का बोध कैसे रह सकता है। उस समय तो मृत्यु का भय, शारीरिक रोगों की पीड़ा का ही ध्यान रहेगा और उसके फलस्वरूप दुःख योनियों में जन्म हो जायगा। अतः वेदान्तवाद से—दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होने की। योग द्वारा पुनर्जन्म नहीं होता। योगाग्नि में जो अपने शरीर को भस्म करना जानता है उसके शरीर में रोग भी नहीं होते। इसीलिए शास्त्रकारों ने योगाभ्यासका फल कथन करते हुए लिखा है—

आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति
पश्चाज्जाड्यं शरीरजम्।

योगाभ्यास से सर्व प्रथम रोग दूर हो जाते हैं तथा उसके बाद शरीर की जड़ता नष्ट हो जाती है। 'चिदानन्दमय देह' हो जाती है। सभी प्राणी शरीर के वश में हैं। शरीर को ठीक रखने में जीवन भर लगे रहते है फिर भी यह ठीक नहीं रह पाता। मोटा, पतला, रोगी, कुरूप होता ही रहता है। योगी अपने शरीर को अपने वश में रखते हैं। अतः शरीरजन्य सुख-दुःख योगियों को कष्ट नही देते। योगी इन्द्रियों के काम क्रोधादिक वेगों

को जीतकर संसार को जीत लेता है या जानी तथा विरक्त देह के वशीभूत हो जाते हैं। उनका न देह पर अधिकार होता है न देह के कारणभूत उपादान—इन्द्रियां, पंचमहाभूत, मन-बुद्धि-चित्त पर उनका अधिकार होता है अतः वे इनके विकारों से कष्ट पाते हैं। योगी मातृ पितृ प्रदत्त मांस पिण्ड को योगाग्नि से भस्म कर नई योगदेह धारण करता है जिसमें न रोग होता है न बुढ़ापा होता है।

महाभूतानि तत्वानि
सम्भूतानि क्रमेण तु।
सप्तधातुमयो देहो,
दग्धो योगाग्निशनैः॥
(वही ५१)

पंच महाभूतों की पंचीकरण प्रक्रिया से सप्त धातुमय यह देह क्रमशः अभ्यास करते-करते योग की अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है फिर योगी को महाबली दूसरा योग देह प्राप्त होता है। उस शरीर की विशेषता सिद्ध योगीन्द्र गोरखनाथ बताते हैं—

छेदबन्धमुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः।
यथाऽऽकाशस्तथा देह
आकाशादपि निर्मलः।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः
स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः॥
(वही ५३)

इच्छारूपो हि योगीन्द्रः
स्वतन्त्रः स्त्वजरामरः।
क्रीडति त्रिषु लोकेषु
लीलया यत्र-कुत्रचित्॥
अचिन्त्य शक्तिमान् योगी,
नानारूपाणि धारयन्।
संहरेच्च पुनस्तानि,
स्वेच्छया विजितेन्द्रियः॥
मरणं तस्य किं देवि!
पृच्छसि इन्दु समानने!
नासौ मरणमाप्नोति
पुनर्योगबलेन तत्॥
पुरैव मृत एवासौ
मृतस्य मरणं कुतः?
मरणं यत्र सर्वेषां,
तत्रासौ सखि! जीवति।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु,
तत्रासौ म्रियते सदा।
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति,
कृतेनासौ न लिप्यते॥
जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः
सर्व-दोषविवर्जितः।

योगाग्नि से जो अपने शरीर को नष्ट करना जान लेता है, वह शरीर के कटने, जलने, गलने, नष्ट होने तथा पाप-पुण्य के

बन्धन के भय से मुक्त होकर नाना प्रकार की शक्तियों का सम्राट बन जाया करता है। उसका योग-देह चिन्मय आकाश से भी सूक्ष्म तथा उससे भी अधिक व्यापक शुभ्र निर्मल तथा स्थूल एवं सूक्ष्म हो जाता है। योगीन्द्र स्वतन्त्र, अजर-अमर होकर इच्छानुसार सर्वत्र अपना रूप धारण कर विचर सकता है। तीनों लोकों में जहां जो करना चाहें खेल-खेल में सब कुछ करने की सामर्थ्य वाला बन जाता है। योगी की शक्तिके विषय इदमित्थं निश्चय नहीं किया जा सकता। अपने हजार शरीर बना ले, क्षण में अपने में लय कर ले। अपनी इच्छा से वह इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखता है। त्वचा से देखने का काम ले ले, आंख से सुनने का काम ले लें। सर्वत्र सभी इन्द्रियां सारे तत्वों से परिपूर्ण होने के कारण वह जहाँ से जो तत्व चाहे वही प्रकट कर सकता है। भगवान शङ्कर पार्वती जी को योगी की शक्ति का उपदेश करते हुए कहते हैं कि जिसने अपने को योगबल से मार लिया उसकी मृत्यु फिर नहीं होती। जो पहले ही मर गया है उसे मृत्यु फिर क्या मारेगी। जिस अवस्था में अन्य प्राणी मर जाते हैं उसी अवस्था में वह जीवन प्राप्त करता है। जिन विषयों में सुख मानकर संसारी लोग जीते हैं, योगी उन विषय सुखों को नश्वर और दुःख-स्वरूप समझकर उनसे मरा रहता है। योगी को आत्मसाक्षात्कार के बाद (अपने को मार लेने के बाद) कुछ भी कर्म करना शेष नहीं रहता। 'कर्म कि होंइ स्वरूपहि चीन्हे।' योगी सब कुछ करता हुआ भी पुण्यपाप से रहित होता है। 'न मां कर्माणि लिम्पन्ते न मे कर्म-फलेस्पृहा।' सभी दोषों से रहित होकर योगी आत्मा में स्थित रहाता हुआ इसी जीवन में मुक्ति का सुख लूटता है।

ज्ञानी पुरुषों को अनेक जन्मों में ज्ञान के द्वारा योग की प्राप्ति होती है किन्तु योगी को इसी जीवन में योगबल से ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है—

जन्मान्तरैश्च बहुभि
योगो ज्ञानेन लभ्यते।
ज्ञानं तु जन्मनैकेन,
योगादेव प्रजायते॥
(वही ७१)

योग की प्राप्ति पुण्यों की राशि का संचय होने पर सिद्ध गुरुदेव की कृपा से होती है। तभी संसार का लय होता है तथा जागतिक सुख-दुःख नष्ट होते हैं और अविनाशी शरीर धारण कर योगी दृश्य से दृष्टा बनता है। अनेक दान, पुण्य, यज्ञ, अपने पुण्य फलस्वरूप व्यक्ति को अपने स्वरूप को जानने की जरूरत महसूस होती है। उन पुण्यों से जप ध्यान-परायण रहने पर महापुण्य का उदय होता है तब सिद्धगुरु की सत्संगति मिलती है।

उनकी कृपा से साधक योगी बनता है। सिद्ध-योगी गोरखनाथ कहते हैं—

पुण्यात्पुण्येन लभते
सिद्धे न सह सङ्गतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा ॥
ततो नश्यति संसारो
नान्यथा शिवभाषितम्।
(वही ६४)

नदी पार करने के लिए अब स्टीमर और नौकाओं का प्रचलन हो गया है। पूर्व समय में घड़े से तैरकर या दो घड़े परस्पर बांधकर उन पर बैठकर नदी पार किया करते थे। जिस प्रकार कच्ची मिट्टी के घड़े से नदी संतरण कठिन है उसी प्रकार अपक्व देहसे संसार में सुखी रहना कठिन है। जल रखने के लिए पकाये हुए घड़े की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सुख के लिए योगाग्नि द्वारा परिपक्व शरीर की आवश्यकता है। अतः योग की अग्नि द्वारा मन-बुद्धि-चित्त, अहंकार, इन्द्रिय तथा सप्तधातुमय मांस पिण्ड को पका देने पर रोग, शोक, क्षोभ, चित्त की चंचलता तथा जन्म-मरण का चक्र नष्ट हो जाता है। भगवान सदाशिव योग का लक्षण प्रकट करते हैं—

योऽपान प्राणयो र्योगः
स्वरजोरेतसोस्तथा ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो
जीवात्म परमात्मनोः ॥
(योगबीजम् ८६)

अपान और प्राण का एकीकरण योग कहलाता है। उसी तरह रज और वीर्य का संयोग योग है तथा सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी की साम्यता भी योग है। अन्तिम स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग कहलाता है। योग की अग्नि कुण्डलिनी शक्ति, नादशक्ति विवेक-ज्ञानाग्नि आदि ऊर्जा को जन्म देने वाली ऊष्मा है। योगाग्नि अरणि मन्थन की तरह मन और शरीर के मन्थन द्वारा स्वतः प्रकट होती है। योग की सिद्धि के लिए गुरुदेव का कृपा प्राप्त करना आवश्यक है। सामर्थ्यवान् गुरु वही है जिसका प्राणकोश पर पूर्ण अधिकार है। जिसके इशारे पर प्राणकोश हरकत करता है। सर्वप्रथम साधक को गुरुदेव की प्रसन्नता का लाभ लेकर प्राणजय करना चाहिए। आजकल गुरुओं की बाढ़ आयी हुई है। शिष्य ढूढ़ने पर मुश्किल से मिलते हैं। सामर्थ्यवान् गुरुदेव का लक्षण शास्त्रों में किया गया है—

मरुज्जयो यस्य सिध्येत्सेव-
येत्तं गुरुं सदा ।
गुरु वक्त्र प्रसादेन
कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥

जिसके शक्तिपात से प्राण और अपान का संयोग होने लगे ऐसे गुरुदेव की हमेशा सेवा करे तथा उनके मुख की प्रसन्नता का ध्यान कर, आशीर्वाद प्राप्त कर तथा उनके उपदेश के अनुसार साधन करके बुद्धिमान साधक प्राणजय करे।

येऽजित्वा पवनं मोहाद्
योगमिच्छन्ति योगिनः।
तेऽपक्वकुम्भमारुह्य
तर्तुमिच्छन्ति सागरम्॥

जो प्राणजय किये बिना मोहवश योग में प्रवेश करना चाहते हैं उनका प्रयत्न उसी प्रकार का है जैसे कोई कच्चे घड़े का सहारा लेकर समुद्र को पार करने की इच्छा करे। जो प्राणलय साधना करना जानता है उनका मनोलय स्वतः हो जाता है। मनोलय होने पर प्राणलय होता है। दोनों का परस्पर चोली दामन का सम्बन्ध है। जीवित रहते ही जिसके प्राण अपान में तथा अपान प्राण में लीन हो जाते हैं उसकी चित्त-वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और वह गुणातीत शुद्ध हो जाता है जिससे उसका शरीर जरामृत्यु से रहित हो जाता है। इसलिए मोक्ष चाहने वाले साधकों को प्राणजय करना चाहिये।

मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे।

वज्रासन में स्थित होकर शक्ति चालनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी जागरण करना चाहिये। पश्चिमोत्तान का नित्य आधा घण्टे अभ्यास करने पर तीन महीने के अभ्यास से प्राण पश्चिम गमन करने लगते हैं जिससे कुण्डली जग जाती है। कुण्डली जागृत कर सूर्यनाड़ी से पूरक कर पूर्ण कुम्भक करने का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर मृत्यु के मुख में गया हुआ भी मृत्यु का शिकार नहीं होता। प्राणवायु पर अधिकार हो जाने पर योगाग्नि वज्रा तथा ब्रह्म नाड़ी को प्रकाशित कर देती है जिससे तीनों लोकों पर अधिकार करने वाली शक्ति प्रकट हो जाती है। भस्त्रा प्राणायाम का अभ्यास करने से कुण्डलिनी प्रबोध होता है जिससे योगाग्नि प्रदीप्त होती रहती है। इसके साथ-साथ मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध का नित्य अभ्यास करना चाहिये। इनके अभ्यास से प्राणजय होता है।

मोक्ष का लक्षण और गुरुदेव की कृपा का स्वरूप यही है कि प्राणलय से चित्तलय हो जाय और अन्त में प्राण भी अपने कारण में लीन हो जाते हैं। प्राण जय करने वाले ही महावीर होते हैं। ऐसे शिष्य को देखकर गुरुदेव परम प्रसन्न होते हैं कि इसने मेरी विद्या को सार्थक किया है। कबीर कहते हैं—

सूरे सीस उतारिया, छाड़ी मन की आस।
आगे से गुरु हरषिया, आवत देखा दास॥

एकं साख्यं च योगं च

यः पश्यति स पश्यति

* आचार्य श्री वेदव्रत शास्त्री

भारतीय दर्शनों का अध्ययन, मनन, श्रवण, मनीषियों में श्री मेधा, प्रज्ञा, का समुत्पादक रहा है। भारतीय प्राचीन दर्शनों की एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा रही है। आज भी भौगोलिक, वौधिक, भाषिक, प्राकृतिक आदि शतशत दृष्टया विखण्डित भारत दर्शनों के ऊहापोह में लगा हुआ है। काश्मीर, पंजाब, हिममय प्रदेश, बालुकामय प्रदेश, राजस्थान, गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी और गोदावरी का शस्य श्यामल देश, मालवा का मैदानी प्रदेश, और दक्षिण का पठारी प्रदेश, बंगाल कोकण, केरल का अधिक पर्जन्यग्रसित प्रदेश, एवं तराई प्रदेशों की दलदलगतभूमि, तथा तमिलनाडु का उष्णाताधिक्य इसमें कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं कर रहा है।

काश्मीर से कन्याकुमारी तक और बम्बई से मणिपुर तक प्रदेशों की आचार विचार-परम्परा भिन्न-भिन्न होते हुए भी यह सभी भूभाग आर्य संस्कृति के पुनरुज्जीवन के लिए कृतसंकल्प हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीयों ने तलवार के राज्य की अपेक्षा धर्म एवं संस्कृति को प्रचार द्वारा बलवत्तर बनाया और एक सूत्र में सबको स्थिर रखा यह अनुकरणीय प्रयास आज भी सर्वतोभावेन अपेक्षित है।

महाभारतकालिक धौम्य ऋषि की यात्रा, लोमश और अंगिरस ऋषियों द्वारा तीर्थ माहात्म्य श्रवण, युधिष्ठर, गौतम, अगस्त्य आदि के पद चिह्नों का अनुसरण ही भारतीय ज्ञानविज्ञान की सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है।

भारतीय दर्शन शास्त्र षड् विकार शमन कारक होने से षड् संस्कारात्मक ही हैं। परन्तु त्रिगुणात्मक सृष्टि में इनको पूर्व और उत्तर-क्रम से विचार करने पर तीन ही कहा जावेगा, जिनका विभाग इस प्रकार किया जा सकताहै।

१. आध्यात्मिकः—
पूर्वभाग– कर्ममीमांसा
उत्तरभाग—ज्ञानमीमांसा—वेदान्त

२. आधिदैविकः—
पूर्वभाग—सांख्य
उत्तरभाग—योग

३. आधिभौतिकः—
पूर्वभाग—न्याय
उत्तरभाग—वैशेषिक

यह विभाग इस आधार पर किया गया है कि मानव शरीर का जीव ही अध्यात्म है और वह शुभ एवं अशुभ कर्मों के द्वारा स्वर्ग-नरक के भोग बन्धन से बद्ध रहता है। उसके कर्मक्षय होने पर वह मुक्त कोटि का हो जाता है। श्रुति वाक्यों में इसी जीव के धर्म अधर्म, पाप पुण्य, शुभ अशुभ सम्बन्धी अनेक विधि निषेध वाक्यों का कथन है। मानव जीवन के लिए इस धर्म-व्याख्या को निमित्त मान कर मीमांसा दर्शन का प्राकट्य हुआ। यह सकाम कर्मों के विवेचन की विशेष व्याख्या है। किन्तु यदि वही कर्म निष्काम भाव से सम्पादित होता है तब अन्तःकरण की शुद्धि का कारण बनता है और ज्ञानोदय होता है।

कर्ममीमांसा की व्याख्या महर्षि जैमिनी ने की है, जो व्यास-शिष्य थे। और ज्ञानमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) जिसमें ज्ञान के साधन रूप कर्मों का विश्लेषण है उसके कर्ता स्वयं व्यासदेवजी हैं। इस लिये यह दोनों दर्शन पूर्व और उत्तर क्रम से पठिति किये गये हैं।

योग शास्त्र को आधिदैविक श्रेणी में रखने का हमारा यह तात्पर्य है कि यह उपासना को आधार मानकर चला है। संयम नियम आदि क्रियाओं के द्वारा मानव अलौकिक अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करता है। इसीलिए यह दैविक ऐश्वर्य परम्परा उपासना का रूप है। यह विभूतियां योग के अवान्तर फल हैं मुख्यतया तो योग के अभ्यास से अन्तःकरण के विक्षेपादि दोष दूरीकरण कर चित्त की शुद्धि एवं शांति ही अभीष्ट है। पश्चात् समाधि अवस्था तक मानव पहुँच जाता है जो ज्ञान की एक विशेष अवस्था है।

सांख्य सिद्धान्तों के अनुसार ज्ञान की दृढ़ता ही मुख्य मानी गई है। जिसमें "त्वं" पदार्थ शोधन पुरः सर, आत्मैकपरा उपासना ही मुख्य है। इन अभ्यासियों को विभुतियों की प्राप्ति नहीं होती और वैसे भी विवेकवान् पुरुष उन विभूतियों को आत्मोन्नति मार्ग में कण्टक रूप मान कर उनकी उपेक्षा रखते हैं। इसलिये यहां सांख्य को पूर्व और योग को उत्तर लिखा गया है। आचार्य पतंजलि योग के और महर्षि कपिल सांख्य के कर्ता हैं। न्याय और वैशेषिक को आधिभौतिक विचार कोटि में इसलिये प्रविष्ट किया गया है कि इनमें द्रव्य, गुण आदि लौकिक पदार्थों को तथा जागतिक व्यवहारों को साधन बनाकर परम—अणु को इस संसरणशीला सृष्टि का मूल कारण कहा गया है। एक विशेष पदार्थ की गणना के कारण उसका नाम वैशेषिक दिया है। महर्षि गौतम और ऋषिकल्प कणाद इनके प्रणेता हैं।

ब्रह्म जिज्ञासा की भावना इस देश में प्राचीन काल से ही है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म और अलौकिक होने के कारण उसको जानना

अत्यन्त कष्ट-साध्य है। अतएव जीव और जगत् को साधन बनाकर ही हमारे दार्शनिकों ने ब्रह्म का परिपूर्ण वर्णन किया है।

इसीलिए हमारा मन्तव्य है कि सांख्य की जहां परिणति है वहीं योग की परिणति है। अतः दोनों को एक रूप से देखना चाहिए, सुप्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थ योगवासिष्ठ का भी यही अभिप्राय है।

चित्तं कारणमर्थानां
तस्मिन्नस्ति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं
तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥

अर्थात् चित्त ही संसार में बन्ध-मोक्ष का कारण है। अतः इस चित्त को क्षीण करने का यत्न करना चाहिये जिससे जन्म मरण रूपी संसार निवृत्त हो।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य
योगो ज्ञानं चराघव!
योग. तद वृत्ति रोधः स्यात्
ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

अर्थात् दो प्रकार चित्त विनाश के हैं योग और ज्ञान। चित्त वृत्ति के निरोध को योग और सम्यक् प्रकार के विचारों को ज्ञान कहते हैं।

आगे बताया है कि—

जिसको योग साधन कठिन प्रतीत हो उसको ज्ञान का आश्रय और जिसको ज्ञान मार्ग कठिन मालूम हो उसके लिए योग ऐसे दो प्रकार, अधिकारी भेद से शिव ने कहे हैं।

असाध्यः कस्यचिद् योगः
कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो
जगाद परमः शिवः॥

चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं। एक प्राण की चंचलता और एक वासना।

द्वे बीजे चित्त वृक्षस्य
प्राण स्पन्दन वासने।

इन दोनों में एक के क्षीण होने पर दूसरी भी क्षीण हो जाती है। गुरु की बतलाई हुई युक्ति, प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास और आसन भोजनादि के संयम से प्राण की चंचलता निवृत्त हो जाती है। लोगों से असंग रहने, संसार की भावना का त्याग करने और शरीर के नाश हो जाने का विचार करने से वासना का उदय नहीं होता है वह स्वतः निवृत्त हो जाती है।

योग के आचार्यों का कहना है कि- मन और प्राण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण के निरोध से मन अनायास वश में आ जाता है या किसी लक्ष्य पर मन को स्थिर करने पर

पूर्व प्रकाशित से आगे—

निजानुभूतियाँ

श्री महेन्द्रनारायणसिंह, कोटपर बरैंनी, कछवा

श्री सद्गुरु देव के विनोद करने मात्र से ही जीर्ण रोगों से छुटकारा

मेरे दूसरे सगे भाई श्री गोविन्दनारायण जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री आशुतोष जी का पूर्व के प्रकरण में वर्णन आ चुका है उन्हीं आशुतोष के दूसरे भाई श्री ज्ञानेश को वर्षों से तेज सूखी खांसी आ रही थी जिसकी वजह से ज्ञानेश दिनों-दिन कमजोर व दुबले होते जा रहे थे। साथ ही दोनों कानों से हमेशा पीव बहता रहता था। उक्त रोगों के शमन के निमित्त बहुत उपचार किया पर लाभ नहीं हुआ। चिकित्सकों ने दोनों कानों में नासूर होना बताया। उनकी शारीरिक अस्वस्थता से घर में सभी को चिन्ता होने लगी। किसी को कोई उपाय नहीं सूझता था। अन्त में यह निश्चय हुआ कि आगामी फरवरी १९६७ में योग प्रचारार्थ श्री गुरुदेव जी जब बरैंनी पधारें तो रोगों से छुटकारे के लिए ज्ञानेश स्वतः ही गुरु चरणों में निवेदन करें पर कठिनाई यह थी कि ज्ञानेश की आयु उस समय १९६७ ई० में मात्र छः वर्ष थी। वे सारी बातें कह नहीं सकते थे। हम सब आपस में वार्ता कर रहे थे। ज्ञानेश ने सुनकर माँ से कहा—कि गुरुजी से पहले कोई कहना प्रारम्भ करे तो फिर मैं सब हाल कह लूंगा। श्री प्रभुजी के बरैंनी पधारने के तीन चार दिन पश्चात् मेरे घर की स्त्रियाँ ऊपर गुरुदेव जी के निवास वाले कमरे में बैठी थीं सोच रही थीं कि ज्ञानेश के विषय में कैसे निवेदन किया जाय। इतने में घट-घट वासी दीनबन्धु ने बच्चे को बुलाकर गोद में बैठाकर स्वतः उससे पूछना आरम्भ किया कि ज्ञानेश तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? नाथ की करुणा कृपा से लड़के ने प्रश्नों का उत्तर बिना किसी हिचक के देना प्रारम्भ किया, जिसे सुनकर स्त्रियों को आश्चर्य होने लगा। उसने अपनी ग्रामीण भाषा में कहा—हे गुरुजी हमें बहुत दिनो से जोर-जोर से खांसी आवलऊ भावार्थ— (हे गुरुजी हमें बहुत दिनों से खांसी आ रही है) सहज कृपालु बच्चे की कही बातें हँस-हँसकर बार बार दुहराते जाते थे। कान के लिए उसने बताया कि कानो बहलउ। प्रभुश्री ने

हँस-हँसकर कहा कि क्या कहा कि कान भी बहता है तो उसने बताया कि महाराज जी दोनों कान बहते हैं (दूनों कनवां बहलउ) फिर कहा बस्सालाउ (भावार्थ—बास बदबू भी करता है)। उसकी बातें सुनकर गुरुजी बार-बार दुहराते हुए देर तक मन्द हास्य करते रहे। कुछ देर तक बच्चे को प्यार करके कृपा सागर ने उसे गोद से उतार कर कहा जाओ अब खेलो। घर आने पर लड़के ने अपनी माँ से कहा कि गुरुजी ने कोई दवा नहीं बताई, रज या पुष्प प्रसाद भी नहीं दिया, कैसे ठीक होऊँगा ? उस मन्द बुद्धि बालक को क्या पता था कि सर्व शक्तिमान प्रभु ने उसके रोग निवारणार्थ सब उपचार कर दिया। दयासिन्धु की विनोदमयी कृपा ने एक हफ्ते के भीतर दोनों कानों का नासूर पीब बहना तथा पुरानी खांसी से छुटकारा करा दिया।

रोग जनित तन्द्रा (बेहोशी) में ही गुरु-दर्शन एवं पूर्ण स्वास्थ्य लाभ

वाराणसी (काशी-बनारस) जिलान्तर्गत पिण्डरा बाजार के पास स्थित कलबालेपुर ग्राम के निवासी श्री बाबू सत्यनारायणसिंह जी गौतम भूमिहार ब्राह्मण श्री गुरुदेव जी के चरण कमलों के दीक्षा प्राप्त शिष्य हैं। उनके भतीजे श्री बाबू लोकनाथसिंह जी गौतम की धर्म पत्नी पर इसी १९६६ ई० के जेठ मास के अन्त में चेचक (शीतला माता) रोग का भीषण प्रकोप हुआ। इस तरफ चेचक रोग होने पर परिवार के अन्य व्यक्तियों को कुछ नियमों का (जैसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, क्षौर कर्म, निषेध, जूते न पहनना, तेल का प्रयोग न करना, चूल्हे पर कड़ाई न चढ़ाना, तेल की छनी चीजें व मांसादि भक्षण निषेध इत्यादि) कड़ाई से पालन करना होता है। घर वालों ने सोचा कि गर्मियों में पके आम खाने से इन्हें फुन्सियाँ निकल आई हैं। इसी भ्रम में किसी ने किसी नियम का पालन नहीं किया। पतिदेव श्री बाबू लोकनाथसिंह जी ने रिश्तेदारी में जाकर चुपके से आमिष भक्षण किया। घर आने पर उन्होंने अपनी धर्म पत्नी का स्पर्श किया। उनके स्पर्श करने के दिन से ही पत्नी की हालत बहुत बुरी हो गई। उसके ऊपर, नीचे के दाँत आपस में भिच गये तथा दोनों आँखों की पुतलियाँ सफेद सी दीखने लगी। लगातार तीन दिन तक निःशब्द इसी प्रकार खाट पर पड़े देखकर घर वालों में घबराहट आ गई। लोग दौड़ धूप करने लगे उन सबों को प्रेत बाधा होने का सन्देह हुआ। ओझा (झाड़, फूंक द्वारा प्रेत बाधा दूर करने वाले) को बुलाया गया। ओझा के आने पर अशक्त तीन दिन से खाट पर बेहोश पड़ी हुई रोगिणी ने ऊँचे स्वर में बोलना आरम्भ कर दिया। उसकी तेज आवाज सुनकर पास-

पड़ोस के लोग दौड़कर आकर हाथ जोड़कर सामने बैठकर सुनने लगे। उसके बोलने का अर्थ यह था कि मुझे प्रेत बाधा नहीं है। मैं शीतला माता हूँ। इसके पति ने मांस भक्षण करके भयंकर पाप किया है मैं इसे दण्ड दूँगी। ओझा तुम घर जाओ। इतना कहने पर वह रोगिणी स्त्री उठकर खाट पर बैठ कर कहने लगी, देखो मेरे गुरुदेव जी आ गये हैं। हाथ में छड़ी घुमाये हुए मेरे घर के बाहर चारों ओर घूमकर देख रहे हैं कुछ क्षण पश्चात् कहने लगी अरे श्री गुरुदेव जी इसी कमरे में आ रहे हैं आप लोग उठकर स्वागत कीजिये। बैठने के लिए आसन दीजिये फिर स्वतः ही आँखें बन्द किये ही खाट पर से उतर कर खूँटी पर रखा कम्बल बिछाकर कहा – हे दयानिधि! विराजमान होइये। साष्टांग दण्डवत करके दोनों हाथों को जोड़कर शीतला जी की ओर से गुरुजी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहने लगी—'हाँ महाराज जी मैं जानती हूँ कि यह आपकी बच्ची है पर इसके पति ने बड़ा ही अनर्थकारी कार्य किया है मैं इसकी दोनों आँखें फोड़कर तब ही इसे छोड़ूँगी। कुछ क्षण रुककर पुनः कहना प्रारम्भ किया। हे सर्वशक्तिमान श्री गुरुदेव जी आपकी आज्ञा सिरोधार्य करके मैं तो जा रही हूँ पर कृपा करके मुझे पुष्प-प्रसाद देने की अनुकम्पा कर दीजिये आदि-आदि। कुछ क्षण पश्चात् वह स्त्री मुँह चलाने लगी। देखने वाले को मालूम होता था जैसे कुछ खा रही हैं। अन्त में प्रणाम करके खड़ी होकर कहने लगी गुरुजी जा रहे हैं आप लोग रास्ता दीजिये। अब चिन्ता मत कीजिये मैं अच्छी हो जाऊँगी। श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार शीतला जी मुझ पर प्रसन्न होकर गयी हैं। कुछ दिन बाद उसकी सफेद पुतलियों का रंग काला पड़ने लगा आँखों में प्रकाश आ गया। परम सद्गुरु की कृपा से वह देवी अब पूर्ण स्वस्थ होकर अपने गृहकार्यों में लग गई है। —क्रमशः ❀❀

(पृष्ठ ३१ का शेष)

प्राण भी स्थिर हो जाता है। दोनों प्रकार से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है और इसके परिणाम से समाधि होती है यही ज्ञान का स्वरूप है। सांख्य का सिद्धान्त है कि नित्य-नित्य विचार करते-करते विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए परिणाम दोनों का एक ही है। एक यह भी दृष्टिकोण है कि योग के अभ्यास से परावस्था प्राप्त होती है - वही ज्ञान है।

तत्व विचार करते करते जब साक्षात् करामलकवत् ज्ञान हो जाता है तब नैष्कर्म्य रूप यथार्थ संन्यास प्राप्त होता है।

इन तथा अनेक कारणों से सिद्ध होता है कि 'योग सांख्य की एकता' अटल सिद्धान्त रूप से सत्य है, इसीलिए आनन्दकन्द व्रजचन्द्र ने कुरुक्षेत्र के महासागर में अर्जुन को कहा कि—

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

० ० ०

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा)

प्रश्नः—परम पूज्य श्री गुरुदेव ! बिनु गुरु भव निधि तरइ न कोई' गोसाईं तुलसीदास जी के इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तरः—प्रिय सौम्य ! अन्य देहधारियों की भाँति मनुष्य भी अनादिकाल से अविद्यादि क्लेशों से ग्रस्त होकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है। वह अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख, रोग-शोक एवं जरा आदि से ग्रस्त हुआ सुख की खोज में संसार में भटकता रहता है। उसका यह भटकना ही भवसागर है। इस भव-सागर से पार होने का एकमात्र साधन सद्गुरु शरणागति ही है। क्योंकि गुरुदेव भवनिधि को पार कराने में एक कुशल मल्लाह का कार्य करते हैं। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं,
पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥

अर्थात् स्वस्थ मनुष्य शरीर इस संसार-रूपी सागर को पार करने के लिए एक सुदृढ़ नौका के समान है, गुरुदेव एक कुशल नाविक के समान है, योग साधना में प्रवृत्ति तथा उसके लिए अनुकूल वातावरण का मिल जाना ईश्वर कृपा रूप अनुकूल हवा है। यह सब कुछ प्राप्त हो जाने पर भी यदि मनुष्य भव-सागर को पार नहीं कर लेता तो वह आत्म-हत्यारा है।

बिनु गुरु भवनिधि तरइ न कोई ।
जो बिरंचि शंकर सम होई ॥

अपनी इस चौपाई में तुलसीदास जी ने भी अपना यही मत प्रकट किया है कि बिना गुरु के मनुष्य भव-सागर को पार नहीं कर सकता। चाहे वह ब्रह्मा और शंकर जी के समान ही क्यों न हों।

प्रश्नः—महाराज जी ! कृपा करके यह बतलाइये कि गुरुदेव किस प्रकार से मनुष्य को भवनिधि से पार लगाते हैं ?

उत्तरः—हे पुत्र ! यह मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ कि भवनिधि को पार करने का अर्थ है—आवागमन के चक्र से मुक्त होना। अर्थात्

अविद्यादि क्लेशों से मुक्त होकर कैवल्य मोक्ष को प्राप्त कर लेना, किन्तु मनुष्य अपने पुरुषार्थ से इन क्लेशों से मुक्त हो जाये यह कुछ कठिन सी बात है। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के संस्कारवश हमारी इन्द्रियां बाहर के विषयों को ग्रहण करने की आदी बनी हुई हैं। इसी में ही जीव सुख अनुभव करता है। अन्तर्जगत के अतुल ऐश्वर्य का ज्ञान न होने के कारण उसकी उस ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जब परमेश्वर की अहैतुकी कृपा से सिद्धगुरु का सान्निध्य प्राप्त हो जाये तो उनकी कृपा से ही उसका मोह नष्ट होता है और उनके द्वारा प्रदत्त दिव्य-दृष्टि से वह अन्तर्द्रष्टा बन पाता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक ये पांचों क्लेश जो कर्माशय के निर्माता हैं और जीव को संसार चक्र में घसीटते रहते हैं, सद्गुरु के शक्तिपात से ही नष्ट होते हैं। बुद्धि और आत्मा के बीच जो अज्ञान का परदा है, जिसे माया तथा हृदय-ग्रन्थि कहा जाता है, सद्गुरु कृपा से नष्ट हो जाती है। जिससे उसके सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं, सभी शुभाशुभ कर्म जलकर समाप्त हो जाते हैं और वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार वह पाप-पुण्य से रहित होकर आवागमन के चक्र से सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है तथा ईश्वर-प्राप्ति रूप परम शान्ति को पा जाता है, जिसे पाकर उसके लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

गुरु शब्द 'गु' और 'रु' इन दो शब्दों के मेल से बना है। जिसमें गुकार का अर्थ है—माया या अज्ञान और रुकार का अर्थ है-उसे हटाने वाला। इसके अनुसार गुरुदेव शिष्य के अन्तःकरण से अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाकर उसे ज्ञानरूपी प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। जिससे उसका सारा मोह नष्ट हो जाता है और वह यथार्थ वस्तु का ज्ञाता बन जाता है। गीता इस बात को प्रमाणित करती है।

मोहग्रस्त अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ावस्था को प्राप्त होकर जब योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण के शिष्यत्व को स्वीकार करते हुए आतभाव से यह निवेदन करता है—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

तो जगदात्मा श्रीकृष्ण गीता के पवित्र उपदेश से उसका मोह दूर करते हुए उसे कर्त्तव्य का पालन करने तथा निष्काम कर्मयोगी बनने की आज्ञा देते हैं। फिर यह देखकर कि अर्जुन का मोहावरण अभी भी पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ, वे कृपापूर्वक उसे दिव्य-दृष्टि प्रदान कर देते हैं।

पहले तो वे अपने योगोपदेशों से संसार

की नश्वरता, आत्मा की अमरता, जीव की बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था, ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता तथा समाधि प्राप्ति के उपाय आदि सभी तात्विक बातों का ज्ञान करा देते हैं और बाद में उसे तीव्र शक्तिपात द्वारा दिव्य-दृष्टि देकर इन सभी विषयों का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के विराट शरीर के अन्दर समस्त अण्ड ब्रह्माण्डों एवं देवी-देवताओं का दर्शन करके तथा समस्त चराचर जगत की विनाशावस्था देखकर अर्जुन का समस्त अज्ञान नष्ट हो गया। भगवान द्वारा यह पूछे जाने पर—कि क्या तेरा मोह अब भी नष्ट हुआ कि नहीं ? अर्जुन हाथ जोड़कर अत्यन्त भक्तिभाव से निवेदन करता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युतः।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः
करिष्ये वचनं तव ॥

हे कृष्ण ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे विवेक ज्ञान की प्राप्ति हो गई है। मेरे सारे सन्देह पूरी तरह नष्ट हो गये हैं, अब मैं अवश्य ही आपके आदेशों का पूर्णतया पालन करूंगा।

इस प्रकार सिद्धगुरु अपने उपदेशों से, संकल्प से और शक्तिपात से शिष्य के मोहावरण को दूर करके उसे कल्याण के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देते है।

प्रश्नः— हे प्रभो ! सिद्धगुरु की क्या पहचान है तथा उनकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

उत्तरः— हे पुत्र सुनो ! मनुष्य अपने चर्मचक्षुओं से सिद्धों की पहचान नहीं कर सकता। जिन पर उनकी कृपा हो जाये वही सौभाग्यशाली उन्हें जान सकता है। साधारण जनों को उनके अन्दर कोई विशेषता नजर नहीं आती। इसके साथ ही यहां यह नियम भी लागू होता है कि सिद्धगुरु ढूंढ़ने पर नहीं मिला करते। जन्म-जन्मान्तर के संचित पुण्यों का भोगकाल उपस्थित होने पर ही सिद्धगुरु की प्राप्ति हुआ करती है। फिर भी शास्त्रों में अधिकारी शिष्य और अधिकारी गुरु के जो लक्षण वर्णित किये गये है उनके अनुसार गुरु में ये विशेषतायें होनी चाहिए —

आचार्यो वेद सम्पन्नो
विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा
योगात्मको शुचिः ॥
गुरुभक्ति समायुक्तः
पुरुषज्ञो विशेषतः ।
एवं लक्षण सम्पन्नो
गुरुरित्यमिधीयतं ॥

वह वेद सम्पन्न आचार्य, विष्णु का भक्त,

मत्सरता से रहित, योग का ज्ञाता, योगनिष्ठ योगात्मा, पवित्रता से युक्त, गुरुभक्त तथा परमात्मा में विशेष रूप से लीन रहने वाला है, इन लक्षणों से युक्त महापुरुष को गुरु कहा जाता है। जिसके अन्दर ये विशेषतायें हों वही गुरु कहलाने का अधिकारी है।

पुण्यों के प्रभाव से ही ऐसे गुरुदेव मिला करते हैं। अतः कल्याणकामी व्यक्ति को अपने पुण्यों का खजाना बढ़ाते रहना चाहिए।

उपनिषदों में कहा गया है—

पश्चात्पुण्येन लभते
सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा।
ततो नश्यति संसारोऽयम्
नान्यथा शिवभाषितम्॥

अर्थात् जो मनुष्य स्वाध्यायशील है, ध्यानाभ्यासी है, परोपकारी है उसका पुण्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जिसके फलस्वरूप उसे सिद्धगुरु की संगति प्राप्त होती है और उस सिद्ध की कृपा से वह योगी बनता है। तब वह संसार चक्र से मुक्त होता है। मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है।

प्रश्नः—जिन सौभाग्यशाली व्यक्तियों को पूर्ण सिद्ध गुरुदेव की शरण प्राप्त हो चुकी है तो क्या उन्हें अपने आपको मुक्त समझना चाहिए? क्या शरणागत वत्सल गुरुदेव कृपापूर्वक स्वयं ही उनका उद्धार कर देते हैं या उन्हें आगे भी कुछ पुरुषार्थ करना पड़ता है।

उत्तरः—प्रिय वत्स! तुमने यह बहुत ही अच्छा प्रश्न किया है। तुम्हारे इस प्रश्न के अन्दर सिद्धयोग का सारा रहस्य छिपा हुआ है। तो सुनो—

आम लोगों के मनों में प्रायः यह धारणा बनी रहती है कि सिद्धों के दर्शन कर लेने मात्र से या उनसे गुरु-दीक्षा ले लेने मात्र से ही मनुष्य योगी बन जाता है, गुरुदेव उसके सभी काम स्वयं कर दिया करते हैं। जब उन्होंने हमें शिष्य रूप में अपना लिया है तो समाधि प्राप्त कराना अब उनका काम है, इसे वे जब चाहेंगे जिस प्रकार चाहेंगे हमारी इच्छा के बिना ही कर लेंगे। ऐसा कहकर जो लोग अकर्मण्य बने रहते हैं उनका योग सिद्ध नहीं होता।

गुरु कृपा वाली बात तो वहां लागू होती है जहां पूरी तरह से आत्म-समर्पण हो चुका हो। जिस साधक की समस्त लौकिक कामनायें पूरी तरह से नष्ट हो गई हैं, जो अपना जीवन, अपना शरीर तथा अपना सर्वस्व गुरुदेव के अर्पण कर चुका है और बिना संशय के मनसा, वाचा, कर्मणा गुरुदेव की प्रत्येक आज्ञा का तत्परता से पालन करने वाला है

ऐसे अनन्य गुरुनिष्ठ साधक पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा हो जाया करती है और वह योग की अमर निधि को पाकर कृतार्थ हो जाता है।

शरणागति का यह अर्थ नहीं है कि साधक लौकिक कार्यों के सम्पादन में स्वयं को स्वतन्त्र समझकर उन्हें आसक्तिपूर्वक करता रहे, किन्तु ध्यान धारणा के काम को गुरुदेव के लिये छोड़ दे। ऐसे लोग गुरुदेव के कृपा-भाजन नहीं बन पाते।

अतः कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिए कि वह गुरुदेव के शरणागत होकर उनके आदेशानुसार साधन परायण रहे। गुरुमन्त्र का जाप ध्यानाभ्यास, गुरु-सेवा तथा परोपकार सम्बन्धी अन्य कृत्यों को करता हुआ साधक ज्योंही अपने पुण्यों को बढ़ा लेता है त्योंही उस पर सिद्धगुरु की पूर्ण कृपा हो जाया करती है। जिस पर उनकी कृपा हो जाये उसकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं है वह तो मुक्त ही है।

ऐसे विरले ही सौभाग्यशाली पवित्रात्मा योग साधक होते हैं, जिनका जन्म-जन्मान्तर का पुण्य पराकाष्ठा पर पहुँच चुका होता है जिसके फलस्वरूप वे सिद्धगुरु के दर्शन मात्र से ही उनकी कृपा को पा जाया करते हैं और पूर्णयोगी बन जाते हैं। आम साधकों को तो इस कृपा लाभ के लिए अपनी स्वाध्याय की सम्पत्ति को बढ़ाना ही पड़ता है। क्योंकि –

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।

भगवान पतञ्जलि देव जी महाराज के इस सूत्र के अनुसार स्वाध्यायशील व्यक्ति को ही सिद्ध पुरुष, इष्टदेव तथा ऋषियों का दर्शन एवं उनका अनुग्रह प्राप्त हुआ करता है।

卐 विचार उच्चार और आचार 卐

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।
यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते॥

"जिस प्रकार मन से विचार होता है उस प्रकार वाणी से उच्चार होता है, जिस प्रकार वाणी से उच्चार होता है उस प्रकार आचार बनता है, जिस प्रकार आचार बनता है, वैसा मनुष्य बन जाता है।" यह सबको ध्यान में धरना चाहिए और विचार, उच्चार, आचार की पवित्रता करनी चाहिए। इसी हेतु से कहा है कि संघशक्ति बनाने वालों को परमेश्वर के 'श्रेष्ठ तेज का ही ध्यान' करना चाहिए। श्रेष्ठ गुणों का चिन्तन करने से उच्च मार्ग पर चलने की प्रेरणा होती है। अस्तु इसी गुरुमंत्र के समान एक मंत्र है, उसका यहां विचार करना उचित है।

❋ मन की शुद्धि ❋

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. बी-एड.

सन्तों की वाणियों में हमें बिना लाग-लपेट के यथार्थ सत्य के दर्शन होते हैं। लोक-भाषा और लोक-वाणी में बनावटीपन का अभाव होने से अनुभूति की सहजता और सत्य की स्पष्ट प्रतीति जितनी सरलता से होती है उतनी विद्वतापूर्ण शास्त्रीय भाषा में नहीं हो पाती। क्योंकि भाषा और अलंकारों के आवरण से वास्तविक सत्य तिरोहित हो जाता है। कबीर की वाणी में साधना मार्ग के स्पष्ट निर्देश सहज और सरल भाषा में दिखाई पड़ते हैं। एक स्थान पर कबीर कहते हैं—

तन को जोगी सब करें, मन को विरला कोय।

दूसरी जगह वे कहते हैं—

मन न रँगाय, रँगाय लीन्हों कपड़ा।

कबीर ने बाह्य साधना चिह्नों की आलोचना दिमागी कसरत के लिए नहीं की थी अपितु बाहरी दिखावे में भटके हुए कंचन और कामिनी के गुलाम बने उन साधकों के मन पर सीधी चोट की थी जिससे वे जटाजूट, दाढ़ी, मूँछ, माला, तिलक, छापा, कुण्डल और कमण्डल के चक्कर में ही न रह जाय। इन परिधियों से आगे उठकर अन्तर्जगत में मन की शुद्धि के द्वारा प्रवेश कर सकें। जिससे अविद्या की गांठ खोलने में ये समर्थ हो सकें। इसीलिए बड़े तीखे स्वर में कबीर ने योगी के नाम पर वेश-रचना तथा बातों का पुलन्दा ढोने वाले साधकों को फटकारा—

जप, माला, छापा तिलक, सरै न एको काम।
मन कांचे नाचे वृथा, सांचे रांचे राम॥

सन्त तुलसी ने भी इसी सत्य को उजागर किया है—

काया कसों कि वन बसों, कै हठि राखों मौन।
तुलसी मन जीते बिना, छुटे न आवा-गौन॥

मन ही व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है और शुद्ध मन सबसे बड़ा मित्र है। वासना युक्त मन अशुद्ध मन कहलाता है। ऐसा मन मोह-मूल और शूलप्रद कहलाता है उससे शारीरिक और मानसिक व्याधियां जैसे-ज्वर, दर्द, दाह, चिन्ता, साइटिक, मनोरोग, अनिद्रा, अविश्वास, सन्देह, भ्रम आदि पैदा हो जाती है। और शुद्ध मन सुख और शान्ति का दाता होता है जिससे जीवन पथ सदा प्रकाशित होता रहता है।

शुद्ध मन आत्म-ज्ञान की अनुभूति कराता

है। ज्ञान से पारमार्थिक लाभ होता है। यदि मन शुद्ध हो तो बिना औषधि के इच्छा-शक्ति से रोग दूर किए जा सकते हैं। उपनिषदों में में मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है—

मन एव मनुष्याणाम्
कारणम् बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तम्
मोक्षाय निर्विषयम् मनः॥

इन्द्रियों का राजा मन है और मन का राजा प्राण है। शुद्ध मन इन्द्रियों को सत् पथ पर अग्रसर करता है और अशुद्ध मन उन्हें कुपथगामी बना डालता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में अपने मन को अपना मित्र बनाने की सलाह देते हैं। अपने मन को कभी दुःखित या दूषित न करें क्योंकि मन ही आत्मा का बन्धु और मन ही आत्मा का शत्रु है—

उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्
नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव आत्मनो शत्रुः
आत्मैव रिपुरात्मनः॥

शंकराचार्य जी से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—'तीर्थम् परम् किम् ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हि मनो विशुद्धम्।' अर्थात् मन यदि विकार रहित हो जाय तो मनुष्य का पूजा, पाठ, जप, तप सभी सार्थक है। शुद्ध मन सबसे बड़ा तीर्थ है। शुद्ध मन से परम शान्ति और विश्व का समस्त ऐश्वर्य चरणों में लोटता है।

मन का लक्षण शास्त्रकारों ने 'संकल्प-विकल्पात्मकम् मनः' किया है। संकल्प-विकल्पों का समूह किया है। मन में एक समय में एक ही प्रकार का ज्ञान होता है और वह क्षण-क्षण में परिणामशील होता रहता है। संस्कारों की प्रेरणा के फलस्वरूप बाहरी विषयों के संयोग से उन्हीं के आकार का बन जाता है।

बुद्धि मन को नियन्त्रित करती है। किसी बाह्य आलम्बन या मन को एकत्रित करने से उसकी शक्ति और एकाग्रता बढ़ जाती है।

मन को शुद्ध करने के उपाय—

हमारे मुख पर यदि कहीं दाग लग जाय तो हम दर्पण का सहारा लेकर उसमें अपनी मलिनता को देख और समझकर दूर करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों को सब ओर से समेट कर वृत्ति की धारणा के द्वारा अन्तर्मुखी बना कर आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने विकारों और दोषों को दूर करते हैं। जिस प्रकार शरीर को जल से शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार सत्यसे मन शुद्ध होता है। शास्त्रों का वचन है—

अद्भिः गात्राणि शुद्धयन्ति,
मनः सत्येन शुद्धयति।

मन, वाणी और कर्म में सत्य का व्यवहार करने से मन स्वच्छ, शुद्ध और निर्मल होता है। शुद्ध मन में ईश्वरीय तेज व्याप्त रहने लगता है। इसी आधार पर दार्शनिकों ने सत्य को ईश्वर कहा है। जिस प्रकार ईश्वर का संकल्प सत्य होता है उसी प्रकार सत्यवादी व्यक्ति का संकल्प सत्य होता है। भगवान पतञ्जलि योग सूत्रों में सत्य का फल बताते हुए कहते हैं—

सत्य प्रतिष्ठायाम् क्रिया फलाश्रयत्वम् ।
(२/३६)

जब जीवन में सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् व्यक्ति भय, लोभ, डर अथवा दिखावे के लिए भी कभी असत्य न सोचता है न बोलता है और न करता है तो उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। सत्यवादी यदि किसी के लिए यह संकल्प कर लेता है कि यह धार्मिक हो जाय तो वह व्यक्ति कितना ही राक्षस हो-सत्य संकल्प से धार्मिक हो जाता है। वह जो भी वर या शाप देता है वह अवश्य फलता है। वह जप, तप, यज्ञ आदि जो भी कर्म करता है उन कर्मों का मन चाहा फल उसे अवश्य मिलता है। सत्य के उत्तरोत्तर उत्कर्ष से बुद्धि भी ऋतम्भरा बन जाती है जिससे वह वस्तु के यथार्थ रूप को जान लेता है।

मन की शुद्धि का दूसरा उपाय निष्काम कर्म है। फल की आकांक्षा छोड़कर कर्तव्य बुद्धि से जब व्यक्ति कर्म करने लगता है तो मन की चञ्चलता, भय और उत्साह-हीनता समाप्त हो जाती है। मन में निरहंकारिता, नम्रता और प्रियता का भाव भर जाता है। भक्त तुलसी मन की शुद्धि के लिए प्रेम भक्ति के जल को आवश्यक समझते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु खगराई ।
अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई ॥

मन का मैल कर्मजन्य वासनायें और संस्कार हैं जिन्हें जैन-दर्शन में आणविक मल कहा है। प्रेमके प्रवाह में मन विगलित होकर शुद्ध बन जाता है। मन शुद्धि का अन्य उपाय यह है कि मन को उसके कारण बुद्धि में लीन कर दिया जाय अर्थात् ज्ञान विवेक और वैराग्य के द्वारा मन को सर्वार्थ से समेट कर किसी एक का बना दिया जाय। जब मन से मोह रूपी मल दूर हो जाता है तो ईर्ष्या, द्वेष, भय, घृणा और चिन्ता समाप्त हो जाती है और हमारा मन सद्विचारों और ईश्वरीय प्रेम से भर जाता है। मन शुद्ध होने पर अनिर्वचनीय सुख, बल और स्फूर्ति का अनुभव होता है।

एकान्त स्थान में शान्त होकर हम अपने मन के विचारों को देखने का अभ्यास करें

❋ बन्धन और मोक्ष ❋

❋ वैद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य आयुर्वेदरत्न

बन्धन और मोक्ष योगाचार्यों ने इस प्रकार से बताया है कि बाह्य दृश्य बन्धन है और आभ्यन्तरिक दृश्य कोमोक्ष कहा जाता है। जैसे कहा है:—

द्रष्ट दृश्योः संयोगो हेय हेतुः

अर्थात् दृष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःख व बन्धन का कारण है।

तस्य हेतुरविद्या

इस सम्बन्ध का कारण अविद्या है।

तद् भावात् संयोगा भावो
हानं तद दृश्ये कैवल्यम् ॥

अर्थात् अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर संयोग मिट जाता है। और दुःख व बन्धन निवृत्ति या कैवल्य प्राप्ति हो जाती है। यानी विशुद्ध आत्मा जब अपने को देह रूप मानता है तो वह बद्ध का नाम पाता है। क्योंकि अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है। इसी से जीव मोह में पड़ा हुआ है जैसे—मैं-तू-तेरा-मेरा राग-द्वेष इच्छा काम क्रोध, लोभ और मोह मद ये सब ही जीव के बन्धन हैं। तो इन बन्धनों से मनुष्य कैसे छुटकारा पाता है। श्री पतञ्जलि जी महाराज ने कहा है।

[पिछले पृष्ठ का शेष]

और मन को समझा बुझाकर ईर्ष्या, द्वेष, भय घृणा आदि विकारों का शमन करें। प्रायश्चित के द्वारा मन की शीघ्र शुद्धि होती है। गुरुनानक के पास एक बार एक अपराधी बोला- महाराज ! मेरे मन में ईर्ष्या, घृणा, कपट, छल आदि विकार कूट कूट कर भरे हैं। मेरे मन की शुद्धि कैसे हो सकती है। उन्होंने कहा हे भाई ! तुम जिन कामों को बुरा समझते हो उनको न करो तो सबसे अच्छा है। यदि अपने को न रोक सको तो सबके बीच में उन कामों को स्वीकार कर पश्चात्ताप करो। फिर तुम देखोगे कि सारे दोष अपने आप छूट जायेंगे। पश्चात्ताप से मन में ज्ञान का उदय हो जायेगा। ऐसा ही हुआ। वह व्यक्ति अपने अपराधों को सभा में कहता तो उसका अन्तःकरण पश्चात्ताप से भर जाता और अगली बार वह बुरा कर्म करने की हिम्मत नहीं कर पाता। सत्य से ही आत्म साक्षात्कार होता है इसलिए सत्य मन के मैल को धोने का साबुन है। ❋ ❋ ❋ ❋

चित्त वृत्ति निरोधो योगः

जब तक चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् रोकी नहीं जाती तब तक योग कैसे हो सकता है, कैसे बन्धन से छूट सकता है। क्योंकि पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और एक मन ये ग्यारह रुद्र कहे हैं। जब तक इनको वश में नहीं किया जाता तब तक बन्धन से दूर कैसे हो सकता है।

चन्द्रमा मनसो जातः

मन का मालिक चन्द्रमा है और स्त्री जाति माना जाता है। जब तक स्त्री रूपी मन को काबूमें नहीं किया जाता तब-तक बन्धन से कैसे मनुष्य छुटकारा पा सकता है। अर्थात् इन सबसे छुटकारा पाने का उपाय योग से भिन्न कोई पथ नहीं है क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, करनेसे ही इन बन्धनों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। कहा गया है—

संसरतीति संसारः

जो हमेशा चलता रहे उसी को संसार कहते हैं, यही बन्धन का कारण है।

ज्ञाते तत्व कः संसारः

ज्ञान तत्व होने के पश्चात् फिर संसार कैसा ! ज्ञान भी योग द्वारा ही प्राप्त होता है। ज्ञान के पश्चात् संसार दीखना बन्द तो नहीं होता परन्तु उसकी देखने की दृष्टि बदल जाती है।

शैल शमं पापं विस्ती-
रणं बहु योजनम् ।
भिद्यते ध्यान योगेन
नान्यो भेद कदाचनः ॥

क्योंकि पहाड़ के समान जो पाप किये हुए है और जिनका बहुत लम्बा चौड़ा विस्तार है, वे पाप और किसी चीज से नष्ट नहीं होते वे तो ध्यान योग से ही नष्ट होते हैं।

अतएव ध्यान योग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ज्ञानेनैव कैवल्यम्

केवल ज्ञान से ही मुक्ति नहीं होती बल्कि शास्त्रों में ऐसा कहा है।

त्यागेन कैवल्यम्

अर्थात् विषय भोग का त्याग ही कैवल्य अथवा मुक्ति है।

कर्मणा शुद्धिः

कर्म से ही चित्त की शुद्धि होती है। जैसे कहा है:—

मलिनोहि यथादर्शो
रूप लोकस्य न क्षमः ।
तथा विपक्व करण
आत्म ज्ञानस्य न क्षमः ॥

अर्थात् जैसे मलिन दर्पण में अपना रूप नहीं दीखता इसी प्रकार अन्तःकरण के वासना रहित हुए बिना (चित्त शुद्ध हुए बिना) आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे कहा है: -

धर्म रज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं
पाप रज्ज्वा व्रजे दधः।
द्वय ज्ञानसिना छित्वा
विदेह शान्ति मृच्छति ॥

अर्थात् धर्म की रस्सी से मनुष्य ऊपर की की ओर और अधर्म की रस्सी से नीचे की गति को प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष अर्थात् ध्यान योगी पुरुष दोनों को ज्ञान रूपी खड्ग से काट कर और देहाभिमान से मुक्त होकर परम शान्ति को प्राप्त करता है इसी प्रकार जिसने प्रकृति से मलिन स्वार्थ व्यष्टि दृष्टि को त्याग कर शुद्ध व निःस्वार्थ समष्टि दृष्टि कर ली। और कुविचारों को छोड़कर सुविचारों को प्राप्त कर लिया होता है, तथा जिन के हृदय में संसारी राग-द्वेष व कामना इच्छा मिट जाने पर स्वाभाविक मुमुक्षता भरपूर होने लगती है। उन्हें ही आत्म-ज्ञान में अधिकार है जिस प्रकार शेरनी का दूध लेने के लिए स्वर्ण पात्र की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार से निष्काम भाव से ध्यान योग करने से शरीर के जितने भी मल हैं वे सब दूर हो जाते हैं। अन्तर दृष्टा से उस प्रभु के दर्शन प्राप्त होते है इसी प्रकार से करते-करते प्रभू की कृपा से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। अतएव भगवा न श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है:--

सर्व धर्मान्परित्यज्य
मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वांसर्वपापेभ्यो
मोक्ष यिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८/६६)

सर्व धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द घन वासुदेव परमात्मा को ही अनन्य शरण को प्राप्त हो जा मैं तुझ समस्त पापों से मुक्त करदूंगा। तू शोक मत कर अतएव ध्यान योग द्वारा ही उस प्रभू निरा कार की चेष्टा करनी चाहिये, अभ्यास करने से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। ध्यान करने से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह एकाग्र चित्त करके उस प्रभु का ध्यान करें -

बड़े भाग मानुस तन पावा,
सुरदुर्लभ सद् ग्रंथन गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा,
पाइ न जिन परलोक सुधारा॥

क्योंकि मनुष्य जन्म बहुत कठिनता से प्राप्त होता है सभी कठिनाईयों को सहते हुए

उस प्रभु के ध्यान में मग्न रहना चाहिए और अपना कल्याण करने की चेष्टा करते रहना चाहिये भगवान की शरण ग्रहण करने पर उनकी दयासे आप ही सारे विघ्नों का नाश होकर भक्त को भगवत प्राप्ति हो जाती है। योग-दर्शन में कहा है:—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम् ततः प्रत्यक्चेतना धिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

उसका वाचक प्रणव (ओंकार) है। उसका जाप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये इससे अन्तरात्मा की प्राप्ति और विघ्नों का अभाव होता है। भगवत-शरणागति के बिना इस कलिकाल में संसार से पार होना अत्यन्त कठिन है।

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहिं पारा॥

कलजुग सम जुग आन नहिं,
जो नर कर विस्वास।
गाइ राम गुन गन विमल,
भवतर विनहिं प्रयास॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(ना० पु० ३/४१/१५

दैवी ह्येषा गुणमयि
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७/१४)

कलियुग में हरि का नाम हरि का नाम केवल हरि का नाम ही (उद्धार करता) है। इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है। क्योंकि यह अलौकिक (अति अद्भुत) त्रिगुण मयी मेरी योग माया बड़ी दुस्तर है। जो पुरुष मेरे को निरन्तर मुझको भजते हैं। वे इस माया का उल्लङ्घन कर जाते हैं। यानी संसार से तर जाते हैं। यही मोक्ष का साधन है। ✡✡

卐 ब्रह्म और जीव 卐

ब्रह्म मनुष्य के अन्तर्तम में निवास करता है और उसे विनष्ट नहीं किया जा सकता। वह आन्तरिक ज्योति है, एक छिपा हुआ साक्षी, जो सदा बना रहता है और जो जन्म-जन्मान्तर में अनश्वर है। उसे मृत्यु जरा या दोष छू नहीं सकते। वह जीव का जो आत्मिक व्यष्टि है, मूल तत्व है। जीव परिवर्तित होता है और जन्म-जन्मान्तर में उन्नति करता जाता है और जब आत्मा का ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित हो जाता है। तब वह उस आत्मिक अवस्था में पहुँच जाता है जो उसकी भविष्यता है, और जब तक उसकी (जीव की) यह दशा नहीं आती वह जन्म-मरण के फेर में पड़ा रहता है।

—स्व० डा० राधाकृष्णनन

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

[मनु—वाणी]

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ।

जैसे बलवान हुआ अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देता है वैसे ही वेद को जानने वाला कर्मज दोषों को जला देता है।

× × × ×

वेद शास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्र आश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥

वेद शास्त्रों के तत्वार्थ को समझने वाला किसी आश्रम में ठहरता हुआ इस संसार में रहकर मोक्ष का भागी होता है।

× × × ×

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

बिना पढ़ों की अपेक्षा पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं। पढ़ने वालों में याद रखने वाले, याद रखने वालों में तत्व को समझने वाले और तत्व को समझने वालों में अनुकूल आचरण करने वाले श्रेष्ठ हैं।

× × × ×

तपो विद्या च विप्रस्य निश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

बुद्धिमान-विप्र के लिए तप और विद्या परम कल्याण-कारक हैं। तप से मल दूर होते और विद्या से अमृत या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्ट ब्राह्मण ज्ञेयाः श्रुति प्रत्यक्ष हेतवः॥

जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से सांगोपांग वेद पढ़े हों जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि व निषेध करने में समर्थ, धार्मिक, परोपकारी हों वे ही शिष्ट पुरुष अथवा ब्राह्मण होते हैं ।

× × × ×

एतमेके वदन्त्यग्निं मनु मन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

इस (परमपुरुष परमात्मा) को कोई अग्नि, विज्ञान स्वरूप होने से मनु, सबका पालन करने के कारण प्रजापति, कुछ प्राण, और कुछ लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ।

× × × ×

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्ट चिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधि कर्म मानसम् ॥

मन सम्बन्धी तीन दुष्ट कर्म हैं, १—पराये द्रव्यों का ध्यान, २—मन से बुरी बात का चिन्तन, ३—परलोक की व्यर्थता अर्थात् यह समझना कि परलोक कोई वस्तु ही नहीं है ।

× × × ×

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥

वाणी सम्बन्धी दुष्ट कर्म चार हैं । १—कठोर वचन, २—झूँठ बोलना, ३—सब प्रकार की चुगली, ४—व्यर्थ संवाद करना ।

× × × ×

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर [आधिपत्य], राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य और सबके ऊपर वर्त्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद शास्त्रों में प्रवीण पूर्ण विद्या वाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए । अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान—[राष्ट्रपति] राजा ये चार सब विद्याओं के पूर्ण विद्वान् होने चाहिए ।

ॐ श्री सद्गुरुदेव जी के योग प्रचार कार्यक्रम ॐ

दिनांक ३०-९-८१ को मुरादाबाद के लिए प्रस्थान

दिनांक १-१०-८१ से २-१०-८१ तक] मुरादाबाद निवास

दिनांक २-१०-८१ को हाथी वाले मन्दिर में प्रवचन

निवास स्थान—पता] श्री शिवराम अग्रवाल,
२६ बी/७ मुनि गली, मुरादाबाद

दिनांक २-१०-८१ को ऋषिकेश होते हुए कोलर के लिए प्रस्थान

दिनांक ३-१०-८१ को रात्रि निवास—] मास्टर लालसिंह कोलर जि० सिरमौर,
(हिमाचल प्रदेश)

दिनांक ४-१०-८१ को सहारनपुर के लिए प्रस्थान

दिनांक ५-१०-८१ से
८-१०-८१ तक] योग प्रचार कार्यक्रम सहारनपुर
पता— श्री सिद्धगुफा योग-प्रचार मण्डल
चित्र-गुप्त मन्दिर, रानी बाजार
सहारनपुर (उ० प्र०)

दिनांक ९-१०-८१ को लाडवा के लिए प्रस्थान

दिनांक १०-१०-८१ से
१४-१०-८१ तक] योग-प्रचार कार्यक्रम लाडवा
पता—ला० साधुराम अठवारिया
मु.पो. लाडवा, जि. कुरुक्षेत्र, हरियाणा

दिनांक १५-१०-८१ को चण्डीगढ़ के लिए प्रस्थान

दिनांक १६-१०-८१ से
२५-१०-८१ तक] योग-प्रचार कार्यक्रम चण्डीगढ़
पता—द्वारा पं० रामचन्द्र कालिया
म० नं० ३२०१ सेक्टर १५ डी, चण्डीगढ़

दिनांक २७-१०-८१ को सवाई आश्रम को प्रस्थान

दिनांक २६-१०-८१ से २९-१०-८१ तक] आश्रम-निवास

दिनांक ३०-१०-८१ को भिण्ड के लिए प्रस्थान

दिनांक ३१-१०-८१ से
५-११-८१ तक] योग-प्रचार कार्यक्रम भिण्ड
पता—धर्मशाला इटावा रोड, भिण्ड

दिनांक ६-११-८१ को दिल्ली के लिए प्रस्थान

दिनांक ७-११-८१ से ८-११-८१ तक] दिल्ली निवास

दिनांक ८-११-८१ को झाँसी के लिए प्रस्थान

दिनांक ९-११-८१ से
१३-११-८१ तक] योग-प्रचार कार्यक्रम झाँसी
पता—द्वारा श्री ईश्वरीप्रसाद खट्टर
म. नं. ३१७/५ अटल निवास,
नानकगंज सीपरी बाजार झाँसी, (उ. प्र.)

दिनांक १३-११-८१ को संगीत सम्मेलन हेतु श्री लक्ष्मी व्यायाम मंदिर प्रस्थान

दिनांक १४-११-८१ से
१९-११-८१ तक] संगीत सम्मेलन एवं योग-प्रचार कार्यक्रम
द्वारा प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय
श्री लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर, झाँसी (उ. प्र.)

ॐ आगे के कार्यक्रम आगामी अंक में प्रकाशित होंगे। ॐ

ब्रह्मचारिव्रते स्थितः

अर्थात् योग के साधक को ब्रह्मचर्य व्रतमें दृढ़ रहना चाहिए। उसे काम-जन्य मनोवेगों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। हिन्दू परम्परा शुरू से ही ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर देती आई है। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद् जिज्ञासुओं से एक वर्ष तक और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने को कहता है। जिसके बाद वह उन्हें उच्चतम ज्ञान में दीक्षित करने का वचन देता है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मा ने इन्द्र को ब्रह्म का ज्ञान उससे एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करवाने के बाद दिया था। ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि यह मन, वाणी और कर्म द्वारा सब दशाओं, सब स्थानों और सब कालों में मैथुनों का परित्याग है। कहा जाता है कि देवताओं ने ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा मृत्यु को जीत लिया था। ज्ञान संकलिनी तन्त्र में शिव ने कहा है कि सच्चा तप ब्रह्मचर्य ही है जो इसका पालन करता है वह मनुष्य नहीं देवता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ तपस्वियों का या अविवाहितों का जीवन नहीं। अपितु इसका अभिप्राय: संयम है। हिन्दू परम्परा में यह बल देकर कहा गया है कि जो गृहस्थ अपने यौन-जीवन को नियन्त्रित रखता है वह उतना ही सच्चा ब्रह्मचारी है जितना कि जो यौन सम्बन्ध से सदा दूर रहता है। ब्रह्मचारी रहने का अर्थ इन्द्रियों का निर्जीव कर देना और हृदय की मांग को अस्वीकार कर देना नहीं है।

—डा० राधाकृष्णनन्

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बलई काला, शाहगंज, आगरा-२ फोन ६३१६८